मोहन मुनि महाराजजी, सदुपदेश दातार ।
दीक्षागुरु पन्यासजी, हर्ष मुनि सुखकार ॥
सरस्वती जिन सूत्र को, वन्दूं वारम्वार ।
सज्जन की कृपा हुई, ग्रंथ लिखुं श्रीकार ॥
पुण्य पाप को फल जिमे, स्वर्ग नर्क का ज्ञान ।
चार गति के जीव का, और शरीर का मान ॥
कहां से वे कहां जात हैं, कहां से फिर कर आय ।
मुक्ति हो किस रीति से, वांचो चित्त लगाय ॥
धाड़ीवाल कुटुम्ब के, मदनचन्द गुणवान ।
सुत उनका हर्षचन्द्रजी, प्रसिद्ध हुआ विद्वान् ॥
उनीसो बहत्तर वदी, चतुर्दशी आसाढ ।
उन चालीस की उम्र में, काले लिया उखाड़ ॥
उनके स्मरण कारणें, बनवायो यह ग्रन्थ ।
साधु साध्वी इच्छुको, मिल से भेट सुमन्त ॥
ज्ञान एक प्रकाश है, बाह्य भीतर लो देख ।
पाप प्रवृत्ति छांड़कर, लेवो मुक्ति लेख ॥
कुमति कुकर्म छोड़ के, राखो ज्ञाने ध्यान ।
माणक कहे जिनराज का, वचन होत प्रमाण ॥

त्रिलोक्य दीपिका (संग्रहणी सूत्र)

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नव तत्त्वों का वर्णन जैन शास्त्रों में किया है जो ग्रन्थ छप चुका है, और जीव विचार प्रकरण भी हिन्दी भाषान्तर के साथ छपगया है. अब चारगति जैसे देव, मनुष्य, नर्क और तिर्यंच आदि का विशेष अधिकार जानने को पूर्वाचार्यों ने सूत्रों में जहां २ अधिकार है उसको संग्रह कर यह सूत्र बनाया है जिससे इसका नाम संग्रहणी सूत्र है. ३१८ मूल गाथाओं में जो विवरण सूचित किया है उसी का विशेष विवरण भीमसी माणक की प्रसिद्ध की हुई छपी प्रति से सार लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है, जिसके पढने से पाप से बचने और नर्क निगोद और तिर्यंच का दुःख मिटने, और पुण्य उपार्जन करने का रास्ता मालूम होता है. इस लोक और पर-लोक में स्वर्ग का सुख मिलने और समता भाव से मुक्ति मिलने आदि का रास्ता बताया है पाश्चिमीय शोध से और अपने शास्त्रों से पृथ्वी और सूर्य के विषय में कुछ विषमवाद है और उन लोगों के पास ऐसे २ साधन भी है कि आज के जमाने में उनपर विश्वास करना पड़े, तो भी पुण्य और पाप के फलों

का निषेध कोई भी नहीं कर सकता, न मुक्ति का निषेध कर सकता है इसलिये उनके ग्रन्थों के और अपने शास्त्रों के विषम वाद में विवाद छोड़कर मध्यस्थ भाव से यथा योग्य पढकर और समझकर तत्व केवली गम्य जान के पापों से बचना और धर्म्म और परोपकार का आदर करना चाहिये.

इस ग्रन्थ को उपयोगी जान साधु साध्वी, वगेरह को भेट देने के लिये मदनचंदजी धाडीवाल ने अपने सुपुत्र हर्षचन्द्रजी के स्मरणार्थ १००) रुपये देकर इसकी ४०० कापी वितीर्ण करने को अलग रक्खी है, और १०० कापी हमीरमलजी साहा ने विद्यार्थियों को ।=) में देने के लिये खरीद करी है बाकी ५०० कापी (प्रति) जैन वा जैनेतर समाज के हितार्थ पूनमचन्द वृद्धीचन्द ढड्ढा हिन्दी जैन पुस्तक प्रचार फंड के द्रव्य से मुद्रित की हुई तय्यार है, आशा है कि एक वक्त भ्राता और भगिनियां इसे जरूर पढ के लाभ उठावेंगे.

गुजरात में जैसे प्रतिक्रमण, जीव विचार, नवतत्त्व, संग्रहणी, कर्म ग्रन्थ और त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित्र आदि ग्रन्थों की परीक्षायें होती हैं और छात्रों को और कन्याओं को उत्तेजनार्थ द्रव्य पारितोपिक (इनाम) देकर जैन तत्व ज्ञान का प्रचार करते हैं, उसी तरह मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़, मालवा, पंजाब, युक्तप्रदेश (यू. पी.) और बंगाल आदि देशों में हिन्दी

भाषा में परीक्षाओं का उपरोक्त प्रबन्ध किया जाय तो आज जैनों की जो वस्ती घटरही है और जैन में हिन्दी साहित्य विषय जो कम है वह अवश्य बढेगा—इसलिये जैसे वृद्धिचन्दजी ढड्डा, मदनचन्दजी धाड़ीवाल, मोहनलालजी जालोरी, हमीरमलजी साहा, बींजराजजी कोठारी, और श्रीरामजी छजलाणी दिल्ली वाले आदि ने जैसे द्रव्य देकर सहाय की है वैसे ही प्रत्येक बन्धु वा भगिनी अपने प्रेमीजनों अथवा बुजुर्गों के स्मर्णार्थ वा पुण्यार्थ द्रव्य देंगे तो उनकी तरफ से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध होवेंगे इस हेतु के लिये आप ग्रन्थ मंगाकर पढें और उसमें सहाय करें.

धर्म्म रत्न प्रकरण में से श्रावक के २१ गुण, बाराव्रत और १४ नियमों के वर्णन का ग्रन्थ केसरीचन्दजी लूणिया की तरफ से उनके पुत्र के स्मर्णार्थ छप रहा है.

और भी अनेक ग्रन्थ छपाने की आवश्यक्ता है इसलिये जो तन मन धन देकर ज्ञान वृद्धि करना चाहें वे पुण्यात्मा पुरुष सोभागमलजी हरकावत अजमेर को लिखें।

अजमेर लाखनकोटड़ी,
श्रावण सुदी १ मंगलवार.

मुनि माणिक्य.

श्री संग्रहणी सूत्र.

मंगलाचरण व ग्रन्थ प्रयोजन—
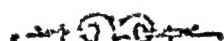
नमिउं अरिहंताई ठिइ भवणोगाहणाय पत्तेयं ॥
सुर नारयाण वुच्छं नर तिरियाणं विणा भवणं ॥१॥
उववाय चवणविरहं संखं इग समइयं गमागमणे ॥

भावार्थः—श्री अरिहंतादिक पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके, देवता और नारकी (नारकी के जीव) इन प्रत्येक की स्थिति (आयु), भुवन (गृह अर्थात् वास स्थान), तथा शरीर की अवगाहना कहेंगे. और मनुष्य तिर्यंच के विषय में भुवन के

सिवाय शेष दो द्वार स्थिति तथा अवगाहना कही जायगी, क्योंकि मनुष्य व तिर्यंच के भुवन शाश्वत नहीं हैं.

इस के अतिरिक्त निम्नलिखित बातें भी कही जावेगी. १ उपपात विरहकाल यानि एक देव उत्पन्न होने के पश्चात् दूसरा देव उत्पन्न होवे उसके बिच में कितना अन्तर पड़े? चवन विरहकाल अर्थात् एक देव चवने के बाद दूसरा देव कितने अर्से में चवता है? तथा एक समय में कितनी संख्या में देव उत्पन्न होवे? और एक समय में कितनी संख्या में देव चवैं? देव मरकर कितनी गति में उत्पन्न होवे? और देवगति मे कितनी गति में से जीव आसकते है? यह छः बातें जिस प्रकार देवों के विषय में कही जावेगी उस ही प्रकार नारकी, मनुष्य व तिर्यंच के सम्बन्ध मे भी कही जावेगी. सब मिलकर देव तथा नारकी के नव नव द्वार तथा मनुष्य और तिर्यंच के आठ आठ द्वार इस भांति ३४ द्वार का विवरण इस ग्रन्थ में किया जावेगा. अब पहिला स्थिति द्वार कहते हैं:—

दसवास सहस्साइं भवणवईणं जहन्नठिई ॥ २ ॥

भावार्थः—भुवनपति देवता देवियों की कम से कम जघन्य स्थिति दश हजार * वर्ष की होती है।

---

* याद रखना चाहिये कि कोई भी देव या नारकी दश हजार वर्ष से कम आयुष्य में मरते ही नहीं है।

चमर बलि सार महिश्रं ॥ तद्देवीणं तुतिरिण चत्तारि ॥ पलियाइं सद्ढाइं ॥ सेसाणं नवनिकायाणं ॥ ३ ॥ दाहिणदिवड्ढ पलियं ॥ उत्तरश्रो हुंति दुन्नि देसूणा ॥ तद्देवी मद्ध पलियं ॥ देसूणं आउसुक्कोसं ॥ ४ ॥

अब भुवनवासी देवों के आयुष्य की उत्कृष्टी स्थिति कहते हैं.

भावार्थः—भुवनपति देवों की दश निकाय है प्रत्येक निकाय में उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध ऐसे दो दो खण्ड हैं। इस प्रकार सब मिलकर बीस खण्ड है. प्रत्येक खण्ड में एक एक इन्द्र है. इस तरह से भुवनपति के २० इन्द्र हैं. इनमें से प्रथम निकाय के दक्षिणार्द्ध में रहने वाले असुरकुमार देवों के अधिपति चमरेंद्र की उत्कृष्ट (ज्यादे से ज्यादा) आयु एक सागरोपम की और उत्तरार्द्ध में रहने वाले असुरकुमार देवों का अधिपति बलेन्द्र की उत्कृष्टी आयु एक सागर से कुछ अधिक है. तथा चमरेंद्र की देवी की उत्कृष्ट स्थिति साढे तीन पल्योपम की तथा बलेन्द्र की देवी की उत्कृष्ट स्थिति साढे च्यार पल्योपम की होती है. इनके अतिरिक्त नागकुमारादि शेष नव

निकाय में दाक्षिण दिशि के धरणेन्द्र प्रमुख नव इन्द्रों की आयु डेढ़ पल्योपम तथा उत्तर दिशि के भूतानेन्द्र प्रमुख नव इन्द्र की उत्कृष्ट आयु कुछ कम दो पल्योपम की होती है. और धरणेंद्रादि नव इन्द्र की देवियों की आयु अर्ध पल्योपम की तथा भूतानेंद्र प्रमुख नव इन्द्र की देवियों की आयु अधिक से अधिक कुछ कम एक पल्योपम की होती है.

अब व्यंतर देव देवियों की स्थिति कहते हैं ।

वंतरियाण जहन्नं ॥ दस वास सहस्स पलिय मुक्कोसं ॥ देवीणं पलिअद्धं ॥

भावर्थः-व्यंतर देव देवियों की जघन्य आयु दशहजार वर्ष की होती है और व्यंतर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य (पल्योपम) की तथा उनकी देवी की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्य की होती है ।

अब चंद्रमा, सूर्य, ग्रह नक्षत्र और तारा इन पांच प्रकार के ज्योतिषी देवो की स्थिति कहते है.

पलियं अहियं ससि रवीणं ॥५॥ लक्खेण सहस्सेणय ॥ वासाण गहाण पलिय मेएसिं ॥

ठिई अद्धं देवीणं॥ कमेण नक्खत्त ताराणं ॥६॥
पलिअद्धं चउभागो ॥ चउ अड भागाहिगाउ दे-
वीणं॥ चउ जुअले चउ भागो जहन्न मड भाग-
पंचमए ॥ ७ ॥

भावार्थः—ज्योतिषी देवके दो प्रकार हैं. एक चर व दूसरे स्थिर. उनमें चरविमान अढी द्वीपके अंतगर्त व स्थिर विमान अढी द्वीप के वाहिर हैं। उनमें से चंद्रमा व चंद्रमा. के विमान वासी देवों की उत्कृष्टायु एक पल्योपम पर एक लाख वर्षकी है. सूर्य व सूर्य के विमान वासी देवों की स्थिति एक पल्योपम पर एकसहस्र वर्षकी है. ग्रह तथा ग्रह के विमान वासी देवों की उत्कृष्टायु एक पल्योपम की है. तथा पूर्वोक्त चंद्रमा. सूर्य व ग्रह के विमान वासी देवों की जितनी आयु है उससे उनकी देवियों की आयु आधी है. अर्थात् चंद्रमा की देवी की उत्कृष्टायु अर्ध पल्योपम ५० पचास हजार वर्ष. सूर्य की देवी की अर्ध पल्योपम पांचसो वर्ष की तथा ग्रहकी देवी की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम की होती है.

अब क्रमशः नक्षत्र व तारा की उत्कृष्टायु कहते हैं.

नक्षत्र व नक्षत्र के विमान वासी देवों की उत्कृष्टायु अर्ध पल्योपम की तथा उनकी देवियों की पाव पल्योपम की आयु

होती है. तारा और तारा के विमान वासी देवों की उत्कृष्टायु कुछ अधिक पाव पल्योपम की तथा इनकी देवियों की आयु पल्योपम के आठवे भाग से कुछ अधिक होती है.

अब ज्योतिषी देव देवियों की जघन्य आयु कहते हैं. चंद्रमा, सूर्य, ग्रह नक्षत्र और तारा के विमान वासी देव तथा देवियों की जघन्यायु पाव पल्योपम की होती है. और तारा के विमान वासी देव देवियों की जघन्यायु पल्योपम के आठवें भाग की होती है.

अब वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति कहते है ।

दोसाहि सत्त साहिय ॥ दस चउदस सतर अयर जा सुक्को ॥ इक्किक्क महिय मित्तो ॥ जा इगतीं सुवरि गेविज्जे ॥ ८ ॥ तित्तीसणुत्तरेसु । सोहम्माइसु ईमा ठिई जिट्ठा ।

भावार्थः—सौधर्म नामा प्रथम देवलोक में अखिरी तेरहवें प्रतर में आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम की तथा दूसरे ईशान देवलोक में दो सागरोपम व पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक है. तीसरे सनत्कुमार देवलोक में सात सागरोपम. चोथे महेंद्र देवलोक में सात सागरोपम अर पल्यो-

पम के असंख्यातवां भाग अधिक. पांचवें ब्रह्मदेवलोक में दश सागरोपम. छट्ठे लांतक देवलोक मे चउद सागरोपम,- व सातवें शुक्र देवलोक में सतरह सागरोपम की उत्कृष्टी आयु स्थिति जानना. शुक्र देवलोक के उपर जो देवलोक हैं उनमें नवम ग्रैवेयक तक प्रत्येक में क्रमशः एक एक सागर की आयु बढाते जाइये जिससे नवम ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयुष्य की स्थिति होगी. जैसे कि—आठवें सहस्सर देवलोक में अठारह सागरोपम. नवमें आनत देवलोक में उन्नीस सागरोपम, दशवें प्राणत देवलोक में वीश सागर, ग्यारहवें अरण देवलोक में इक्कीस सागर, बारहवें अच्युत देवलोक में बाइस सागरोपम, प्रथम हेटिम हेटिम ग्रैवेयक में तेईस, दूसरी हेटिम मध्यम ग्रैवेयक में चौवीस, तीसरी हेटिम उवरिम ग्रैवेयक में पच्चीस, चौथी मध्यम हेटिम ग्रैवेयक में छब्बीस, पांचवीं मध्यम ग्रैवेयक में सत्ताईस. छट्ठी उवरिम ग्रैवेयक में अट्ठाईस, सातवीं उवरिम हेटिम ग्रैवेयक में उनतीस, आठवीं उवरिम मध्यम ग्रैवेयक में तीस और नवमी उवरिम ग्रैवेयक में इकत्तीस सागरोपम की उत्कृष्टी आयुस्थिति होती है. पांच अनुत्तर विमान में तेतीस सागरोपम की उत्कृष्टी आयुस्थिति है. इस प्रकार सौधर्म देवलोक से लगाकर पांच अनुत्तर विमान पर्यंत वैमानिक देवों की उत्कृष्टी आयुस्थिति कही.

अब इन वैमानिक देवों के आयुष्य की जघन्य स्थिति कहते हैं.

सोहम्मे ईसाणे ॥ जहन्न ठिई पलिय महिअं च ॥ ९ ॥ दो साहि सत्त दस चउदस ॥ सत्तर अयराइं जा सहस्सारो ॥ तप्परओ इक्किकं ॥ अहियं जाणुत्तर चउक्के ॥ १० ॥ इगतीस साग· राइं सव्वट्ठे पुण जहन्न ठिइ नत्थि ॥

भावार्थः—सौधर्म देवलोक में एक पल्योपम की जघन्य स्थिति. ईशान देवलोक में एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक एक पल्योपम की जघन्य आयु स्थिति, तीसरे सनत्-कुमार में दो सागर की जघन्य स्थिति, चौथे महेन्द्र मे कुछ अधिक दो सागर की पांचवें ब्रह्मलोक में सात सागरोपम छट्टे लांतक में दस सागरोपम, सातवें महाशुक्र में चौदह सागरोपम. आठवें सहस्सार देवलोक में सतरह सागरोपम की जघन्य आयु स्थिति जानना. इनके उपर आनतादिक देवलोक में एक एक सागर बढाते २ यावत् चार अनुत्तर विमान में इकतीस सागर की जघन्य स्थिति होती है. सो लिखते हैं. आनत में १८, प्राणत में १९, आरण में २०, अच्युत में २१, इसी प्रकार नव ग्रैवेयक में तीस सागरोपम की जघन्य आयुष्य की स्थिति

होती है, और अनुत्तर चतुष्क में यानि विजय, विजयंत, जयंत और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानों में इकतीस सागरोपम की जघन्य आयु स्थिति होती है. किंतु सर्वार्थ सिद्ध नामक पंचम अनुत्तर विमान में जघन्य आयु स्थिति नहीं है क्योंकि यहां अजघन्योत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की आयु स्थिति है.

अथ वैमानिक देवियों की जघन्य तथा उत्कृष्ट आयु स्थिति कहते हैं.

परिगहिआणिय राणिय ॥ सोहम्मीसाण देवीणं ॥ ११ ॥ पलियं अहियंच कमा ॥ ठिई जहन्ना इओय उक्कोसा ॥ पलियाइं सत्त पण्णास ॥ तहय नव पंचवन्नाय ॥ १२ ॥

भावार्थः—वैमानिक देवियों की उत्पत्ति सौधर्म तथा ईशान इन दो देवलोक में होती है. वे देवियां दो प्रकार की है. एक विवाहिता कुलांगना समान सो परिगृहीता देवी और दूसरी साधारण वेश्या के सदृश अपरिगृहीता देवी उनमें से सौधर्म देवलोक की परिगृहीता व अपरिगृहीता देवियों की जघन्यायु एक पल्योपम की होती है. और दूसरे ईशान देवलोक की देवियों की जघन्यायु कुछ अधिक एक पल्योपम की होती है.

अब उनकी उत्कृष्टी आयुस्थिति कहते हैं।

सौधर्म देवलोक की परिगृहीता देवियों की सात पल्योपम की और अपरिगृता देवियों की पचास पल्योपम की उत्कृष्ट आयुस्थिति जानना. वैसे ही ईशान देवलोक की परिगृहीता देवी की नव पल्योपम की व अपरिगृहीता देवियों की पचपन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु स्थिति होती है।

अब असुरादिक की इन्द्राणी अग्रमहिषी की संख्या कहते हैं।

पण छ चउ चउ अट्ठय ॥ कमेण पत्तेय मग्ग महिसीओ ॥ असुर नागाइ वंतर ॥ जोईस कप्प दुगिंदाणं ॥ १२ ॥

भावार्थः—सर्व अंतः पुर में प्रधान पट्टराणी समान जो देवी होती है उसको अग्रमहिषी कहते है. असुरकुमार के चमरेंद्र व बलिन्द्र यह भवन पतिकी पहिली निकाय के दो दिशिके दो इन्द्र है उनमें से प्रत्येक पांच पांच अग्रमहिषी हैं. तथा नागकुमारादि शेष जो नवनिकाय हैं उनके धरणेन्द्र तथा भूतानंद्र आदि अठारह प्रत्येक इंद्र के छः छः अग्रमहिषी हैं. तथा व्यंतर देवकी १६ निकाय के काल, महाकाल आदि ३२ इंद्र है, इन प्रत्येक के चार चार अग्रमहिषी हैं. और ज्योतिषी के

इंद्र चंद्रमा व सूर्य प्रत्येक के चार चार अग्रमहिषी हैं तथा सौ-धर्म व ईशान इन्द्र कल्पों के दो इंद्रों के प्रत्येक के आठ आठ अग्रमहिषी हैं. दूसरे देवलोक से ऊपर देवी की उत्पत्ति नहीं होती है. किंतु सनत्कुमारादि देवलोक के इंद्र तथा देवों को जब विषय वांछना होती है तब सौधर्म व ईशान देवलोक की अ-परिगृहीता देवियों से दशयोग्य रीति से उपभोग करते हैं. अतः वहां अग्रमहिषी का अभाव है.

पहिले वैमानिक देवों की आयुस्थिति समुच्चय से कही है अब प्रत्येक प्रतर की पृथक् २ आयु स्थिति कही जायगी और उसके लिये प्रथम प्रतर संख्या कहते हैं:-

दुसु तेरस दुसु बारस ॥ छ प्पण चउ चउ दुगे दुगेय चउ ॥ गेविज्ज णुत्तरे दस ॥ बिसट्ठि पयरा उवरिलोए ॥ १४ ॥

भावार्थः-जिस प्रकार घरमें ऊपराऊपरी मंजिलें होती हैं उसी प्रकार देवलोक में भी ऊपराऊपरी प्रतर होते हैं. सौधर्म और ईशान देवलोक के मिले हुए तेरह प्रतर गोलाकार हैं. उनमें से प्रत्येक प्रतर के दक्षिणार्द्ध खंड सौधर्मेन्द्र के हैं और उत्तरार्द्ध खंड ईशानेन्द्र के हैं. दोनों देवलोक के मिले हुए तेरह

प्रतर हैं. इसी प्रकार दूसरे भी गोलाकार देवलोक युगल में समझ लेना. सनत्कुमार व माहेन्द्र में भी मिले हुए गोलाकार बारह प्रतर हैं यहां भी दक्षिणार्ध खंडों में सनत्कुमारेन्द्र का व उत्तरार्ध खंडों में महेन्द्र का आधिपत्य है. ब्रह्म देवलोक में छः प्रतर हैं. लांतक में पांच प्रतर है. शुक्र देवलोक में चार प्रतर. सहस्सार में चार प्रतर हैं. आनत और प्राणत इन दोनों देवलोक के युगल में मिले हुए चार प्रतर. और उसी प्रकार आरण और अच्युत में भी मिले हुए प्रतर हैं. एवम बारह देवलोक के ५२ प्रतर हुए. तथा नव ग्रैवेयक में प्रत्येक का एक एक प्रतर है. यह नव प्रतर हुए. तथा पांचों अनुत्तर विमान एक प्रतर है. सब मिलकर ६२ प्रतर हुवे. वे सर्व उर्ध्वलोक में हैं.

अब प्रत्येक प्रतर में पृथक् २ उत्कृष्ट, तथा जघन्य आयु निकालने का उपाय बतलाते हुए प्रथम सौधर्म देवलोक का बयान करते हैं.

सोहम्मुक्कोस ठिइ निय पयर विहत्त इच्छ संगुणिओ ॥ पयरुक्कोस ठिइओ ॥ सव्वत्थ जहन्नो पलियं ॥ १५ ॥

भावार्थः—सौधर्म देवलोक की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम की है. उसको प्रतर की संख्या से भाग देना जिससे दो सागर

का तेरहवां हिस्सा उपलब्ध हुआ अब जिस प्रतर की उत्कृष्ट आयु स्थिति निकालनी हो उसके साथ $\frac{२}{१३}$ का गुणा करने से उस प्रतर की उत्कृष्ट आयुस्थिति मालूम होजायगी. जैसा कि प्रथम प्रतर की उत्कृष्ट आयुस्थिति $\frac{२}{१३}$ सागर की. दूसरे की $\frac{२}{१३}\times\frac{२}{१}=\frac{४}{१३}$ यानि एक सागर के तेरा भाग करें उनमें से चार भाग की. वैसेही तीसरे प्रतर की $\frac{६}{१३}$ सागर की. दशवें की १$\frac{७}{१३}$ सागर की. बारहवें की १$\frac{११}{१३}$ सागर की और तेरहवें की $\frac{२}{१३}\times\frac{१३}{१}=२$ अर्थात् दो सागर की उत्कृष्ट आयुस्थिति हुई इसी प्रकार ईशान देवलोक में भी प्रत्येक प्रतर में आयु निकालने का उपाय करना सिर्फ इतना अंतर है कि उसमें प्रथम प्रतर में $\frac{२}{१३}$ सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति है. दूसरे में $\frac{४}{१३}$ सागर से कुछ अधिक है वैसेही प्रत्येक प्रतर में कुछ अधिक समझ लेना और तेरहवें प्रतर में कुछ अधिक दो सागरोपम की उत्कृष्ट आयुस्थिति समझना.

सर्वत्र यानि सौधर्म देवलोक के तेराही प्रतर में जघन्य आयुस्थिति एक पल्योपम की है. और ईशान देवलोक के प्रत्येक प्रतर में कुछ अधिक एक पल्योपम की जघन्य आयुस्थिति है.

अब सनत्कुमारादिक उपर के देवलोक के प्रत्येक प्रतर में जघन्य उत्कृष्ट आयुस्थिति निकालने का उपाय बतलाते हैं.

सुरकप्प ठिइविसेसो ॥ सगपयरविहत्त इच्छ संगुणिओ ॥ हिट्ठिल्लाट्ठिइ सहिओ ॥ इच्छिय पयरंमि उक्कोसा ॥ १६ ॥

देवो के कल्प (वारह देवलोक को कल्प कहते हैं और नवग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर विमान को कल्पातीत कहते हैं) की जो उत्कृष्ट आयुस्थिति है उसका विश्लेप कीजिये यानि अधिक स्थिति में से न्यून स्थिति वाद कीजिये. शेप जो वचे उसका नाम सुरकल्पस्तिति विश्लेप है. अव उस विश्लेप को देवलोक के अपने अपने प्रतर की संख्या में विभक्त कीजिये (वांटिये) तत्पश्चात् उसे वांछित प्रतर के साथ गुणिये (गुणा कीजिये) जो अंक आवे उसमें नीचे के प्रतरकी उत्कृष्ट आयुस्थिति मिलाइये ऐसा करने से इच्छित प्रतर की उत्कृष्ट आयुस्थिति मिलाइये ऐसा करने से इच्छित प्रतर की उत्कृष्ट आयुस्थिति मालूम हो जायगी । उसका उदाहरण कहते हैं। सौधर्म देवलोक के तेरहवें प्रतर में उत्कृष्ट आयुस्थिति दो सागरोपम की है और सनत्कुमार की उत्कृष्ट आयु सात सागर की है उनसात सागरमें से नीचेकी स्थिति के दो सागर वाद किये शेप पांच सागर वचे। उन पांच सागरोपम के वारह भाग

किये (क्योंकि सनत्कुमार के वारह प्रतर है) जब ५/१२ पांच ब-
टा वारह सागर हुए।

तत्पश्चात् नीचे के प्रतर की यानि सौधर्म देवलोक के ते-
रहवें प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति उसके साथ मिलाने से तीसरे
देवलोक के पहले प्रतर में २ ५/१२ दो पूर्णांक पांच द्वादशांस या-
नि दो सागर और वारीया पांचभाग अधिक इतनी उत्कृष्ट आ-
युस्थिति हुई इसी प्रकार दूसरे प्रतर में २ १०/१२ सागरोपम की।
तीसरे प्रतर में ३ ३/१२ सागरोपम की यों प्रत्येक प्रतर में ५/१२ सागर
बढाने २ यावत् १२ वें प्रतर में सपूर्ण सात सागरोपम की उत्कृ-
ष्ट आयुस्थिति होती है। वैसे ही माहेन्द्र देवलोक में अधिक
(कुछ अधिक) स्थिति केहना। और उसी प्रकार उपरके सब
देवलोक में प्रतरकी आयुस्थिति का हिसाब निकाल लेना।

अब वारह देवलोक के इन्द्रो के निवास स्थान कहते हैं.

कप्पस्स अंत पयरे ॥ निय कप्पवडिंसया विमाणाओ ॥ इंद निवासा तेसिं ॥ चउदिसि लोगपालाणं ॥ १७ ॥

भावार्थः—सर्व देवलोक के सब से उपर के प्रतर में, प्रतर
के वरावर मध्यभाग में निजकल्पावतंसक (अपने अपने कल्प

के नाम से) विमान है. जैसा कि:-सौधर्म देवलोक के ऊपर के तेरहवें प्रतर के मध्य में सुधर्मावतंसक नामक विमान है और ईशान देवलोक के तेरहवें प्रतर के मध्य में ईशानावतंसक नामक विमान है। ओर इसी प्रकार सर्व देवलोक में समझ लेना। मगर इतना विशेष है कि नवमा और दशमा देवलोक में इन्द्र एक ही है वहां चतुर्थ प्रतर में प्राणावतंसक नामा विमान है। और ग्यारहवां और बारहवां इन दो देवलोक का भी एक ही इन्द्र है। उस में भी चतुर्थ प्रतर अच्चुतावतंसक नामा विमान में इन्द्र का निवास है। और उस इन्द्र विमान के चारों और चार विमान होते हैं उनमें सोम, यम, वरूण और वैश्रमण ये चार लोकपाल देवों का निवास है।

अब सौधर्मेन्द्र के चार लोकपाल की उत्कृष्टायु कहते हैं:-

सोम जमाणंसतिभाग पलिय वरुणस्स दुन्नि देसूणा ॥ वेसमणे दो पलिया ॥ एस ठिइ लोग-पालाणं ॥ १८ ॥

भावार्थः-पूर्व दिशिका लोकपाल सोम, और दक्षिण दिशिका लोकपाल यम इन दोनों का एक पल्योपम व एक पल्योपम का तीसरा भाग अधिक ($1\frac{1}{3}$ पल्य.) आयुष्य है

और पश्चिम दिशिका वरुण नामा लोकपाल है उसका आयुष्य कुछ कम दो सागरोपम का है। और उत्तर दिशिका वैश्रमण नामा चतुर्थ लोकपाल का आयुष्य दो पल्योपम का है। यह सौधर्मेन्द्र के चारों लोकपाल की उत्कृष्ट आयुस्थिति कही।

इति देवों के आयुष्य का प्रथम द्वार सम्पूर्ण।

अब देवगति में भुवन सम्बन्धी दूसरा द्वार कहते हैं:—

असुरा नाग सुवन्ना। विज्जु अग्गीय दीव उदहीअ॥ दिसि पवण थणिय दसविह॥ भवणवई तेसु दुदुइंदा॥ १६॥

भावार्थः—देवों की चार निकाय में प्रथम भुवनपति की निकाय में भुवन कहने के लिये प्रथम भुवनपति की दश जात के नाम कहते हैं. १ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुपर्णकुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशिकुमार, ९ वायुकुमार, १० स्तानितकुमार ये दश प्रकार के भुवनपति देव हैं उन में एक एक निकाय में एक दक्षिण श्रेणी का और एक उत्तर का यों प्रत्येक निकाय में दो दो इन्द्र हैं.

अब पूर्वोक्त दश निकाय के इन्द्रों के नाम कहते हैं:—

चमरे बलीअ धरणे ॥ भूयाणंदेय वेणुदेवेय ॥ तत्तोय वेणुदाली हरिकंते हरिस्सह चेव ॥ २० ॥ अग्गिसिह अग्गिमाणव ॥ पुन्न विसिट्ठे तहेव जलकंते ॥ जलपह तहअमिअगई ॥ मिय वाहण दाहिणुत्तरओ ॥ २१ ॥ वेलंबेय पभंजण ॥ घोस महाघोस एसि मन्नयरो ॥ जंबुद्दीवं छत्तं ॥ मेरुं दंडं पहुकाउं ॥ २२ ॥

भुवनपति की निकाय दश हैं और इंद्र २० हैं क्योंकि प्रत्येक निकाय में एक दक्षिण श्रेणी का इंद्र व एक उत्तरश्रेणी का इद्र है. अब उनके नाम क्रमशः कहते हैं. पहली असुरकुमार निकाय के दक्षिण दिशि का चमरेंद्र असुरकुमार १ उत्तरदिशि का बलिंद्र असुरकुमार. दूसरी नागकुमार निकाय के दक्षिण दिशि के धरणेंद्र और उत्तर दिशि के भूतानेंद्र. तीसरे सुवर्ण-कुमार के दक्षिण दिशि के वेणुदेवेंद्र और उत्तर दिशि के वेणुदालिंद्र. चोथी विद्युत्कुमार निकाय में हरिकंतेंद्र और हरि-सहेन्द्र. पांचवीं अग्निकुमार निकाय में अग्निशिखेंद्र और अग्नि माणवेंद्र. छट्ठी द्वीपकुमार निकाय में दक्षिण पूर्णेंद्र और उत्तर विशिष्टेन्द्र. सातवीं उदधिकुमार निकाय में दक्षिणे जलकंतेंद्र

और उत्तर जलप्रभेंद्र. आठवीं दिशिकुमार निकाय में अमित-गतींद्र और अमितवाहनेंद्र ॥ २१ ॥ नवमीं वायुकुमार निकाय में वेलंबेंद्र और प्रभंजनेंद्र और दशवीं स्थनित कुमार निकाय में दक्षिण घोषेन्द्र और उत्तर महाघोषेन्द्र. इन वीस इन्द्रों में से यदि कोई भी इन्द्र अपना सामर्थ्य बतावे तो जंबुद्वीप को छत्राकार और मेरु पर्वत को दंड करने को समर्थ है. अर्थात् मेरु पर्वत को बांये हाथ पर धरे तो भी उनके शरीर को कुछ परिश्रम मालूम न होवे. ऐसे ये सर्व इन्द्रो सामर्थ्यवान् हैं ॥ २२ ॥

अब असुरकुमारादिक निकाय की दक्षिण श्रेणी की भुवन संख्या कहते हैं:—

चउतीसा चउचत्ता । अट्ठत्तीसाय चत्त पंचण्हं ॥ पन्ना चत्ता कमसो । लक्खा भवणाण दाहिणओ ॥ २३ ॥

भावार्थः—प्रथम असुर कुमार के चोत्तीस लाख भुवन नाग कुमार के ४४ लाख, सुवर्णकुमार के ३८ लाख, विद्युत्कुमार के के, अग्निकुमार, द्वीपकुमार उदधिकुमार और दिशिकुमार इन पांच निकाय में चालीस लाख भुवन है। और पवनकुमार के पचास लाख भुवन है और स्तनितकुमार के ४० लाख भुवन हैं ॥ इति दक्षिण श्रेणी की भुवन संख्या ॥

अब उत्तर श्रेणी के भुवन की संख्या कहते हैं:-

चउ चउ लक्ख विहूणा ॥ तावइया चेव उत्तर दिसाए, सव्वेवि सत्त कोड़ी ॥ बावत्तरि हुंति लक्खाय ॥ २४ ॥

भावार्थः-दक्षिण श्रेणी के दशनिकाय की जो भुवन संख्या आगे कही है उनमें से प्रत्येक निकाय में चार चार लाख विमान उत्तर श्रेणी में कम हैं। यों सब मिलकर दक्षिण दिशि के भुवन चार क्रोड छ लाख हुए और उत्तर श्रेणी के भुवन तीनक्रोड छासठ लाख हुए। सब मिलकर सात क्रोड़ बहत्तर लाख भुवन हैं।

अब ये भुवन कहां है उनके स्थानक बतलाते हैं:-

रयणाए हिट्ठुवरिं ॥ जोयण सहस्स विमुत्तु ते भवणा ॥ जंबुद्दीव समातह ॥ संख मसंखिज्ज वित्थारा ॥ २५ ॥

भावार्थः-रत्नप्रभा पृथ्वी का पिंड १ लाख ८० हजार योजन का है उनमें से एकहजार योजन उपर और एक हजार योजन नीचे छोडिये उसके बीचमें एकलाख ७८ हजार योजन में भुवनपति देवों के, भुवन है। वे भुवन में छोटे से छोटे

भुवन भी जंबुद्वीप जितने बड़े हैं । और मध्यम भुवन संख्याता कोटी योजन के हैं । और उत्कृष्ट भुवन असंख्याता कोडा कोडी योजन के विस्तारवंत हैं

अब असुरादिक दश निकाय के देवों के मुकुट आदि सर्व आभरण में जो चिन्ह होते हैं और जिनसे अपने २ निकाय की पहिचान होती है सो चिन्ह कहते हैं:-

चूडामणि फणि गरुडे । वज्जे तह कलस सीह अस्सेय ॥ गय मयर वद्धमाणे ॥ असुराईणं मुणसु चिंधे ॥ २६ ॥

भावार्थः—असुरकुमार के मुकुट में चूडामणि का चिन्ह, नाग कुमार को सर्प्पकी फणिका चिन्ह, सुवर्णकुमार को गरूड का चिन्ह, विद्युतकुमार को वज्रका चिन्ह, अग्निकुमार को पूर्ण कल-श का चिन्ह, द्वीपकुमार को सिंह का चिन्ह, उदधिकुमार को अश्वका चिन्ह, दिशिकुमार को हस्तिका चिन्ह, वायुकुमार को मगरका चिन्ह, स्तानितकुमार को वर्द्धमान यानि सराव संपूट का चिन्ह ये असुरादिक दश प्रकार के भुवनपति के चिन्ह कहेगये.

अब ये १० प्रकार के भुवनपति के शरीर का वर्ण कहते है ।

असुरा काला नागुदहि पंडुरा तह सुवन्न

दिसि थणिया॥कणगाभ विज्जु सिहि दीव अ-
रूणा वाउ पियंगु निभा ॥ २७ ॥

भावार्थः—असुरकुमार के शरीर काले वर्ण के, नागकुमार व उदधिकुमार के शरीर गौरवर्ण के वैसे ही सुपर्णकुमार, दि-शिकुमार व स्तनितकुमार इन तिनों के शरीर कनकवर्ण के और विद्युतकुमार, अग्निकुमार व द्वीपकुमार इन तीनों के शरीर रक्त वर्ण के हैं। और वायुकुमार के शरीर की कांति पीयंगु वृक्ष समान यानि नीले वर्ण की है।

अब असुरकुमारादिक के वस्त्रों का वर्ण कहते हैः-

असुराण वत्थ रत्ता ॥ नागोदहि विज्जु
दीवसिहि नीला ॥ दिसि थणिय सुवन्नाणं ॥
धवला वाउण संझरुई ॥ २८ ॥

भावार्थः—असुरकुमार के वस्त्र रक्तवर्ण के हैं. नागकुमार. उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, द्वीपकुमार और अग्निकुमार इन पांचों के नील वस्त्र होते हैं। दिशिकुमार, स्तनितकुमार व सुपर्णकुमार इन तीनों के वस्त्र उज्वल (सफेद) है तथा वायु कुमार के वस्त्र संध्या राग (संध्या के वादल) समान होते हैं.

अब भुवनपति के इन्द्रों के * सामानिक देवों की तथा † आत्मरक्षक देवों की संख्या कहते हैं:-

चउसठ्ठि सठ्ठि असुरे ॥ छच्च सहस्साइं धरण माईणं ॥ सामाणिय इमेसिं ॥ चउग्गुणा आय-रक्खाय ॥ २९ ॥

भावार्थः--असुरकुमार निकाय के दो श्रेणी में वीस इन्द्र है. उनमें से प्रथम चमरेन्द्र के ६४ हजार और दूसरे बलीन्द्र के ६० हजार सामानिक हैं. शेष धरणेन्द्रादिक १८ इन्द्रों में प्रत्येक के छ छ हजार सामानिक देव है. और प्रत्येक इन्द्र के सामानिक देवों से चार गुणे आत्मरक्षक देव होते हैं (वे इन्द्र के चारों ओर रहते है)

अब व्यंतर देवों की वक्तव्यता करते हुए प्रथम व्यंतर देवों के भुवन कहते हैं:-

रयणाए पढम जोयण ॥ सहस्से हिठ्ठुवरि सय सय विहूणे ॥ वंतरियाणं रम्मा ॥ भोमा नगरा असंखिज्जा ॥ ३० ॥

---

* सामानिक=इन्द्र के समानऋद्धि के धारक.

† आत्मरक्षक=इन्द्र के शरीर की रक्षा करने वाले देव.

भावार्थः—रत्नप्रभा * पृथ्वी के उपर के एक हजार योजन के मृतिका पिंड में से सौ जोजन उपर व सो जोजन नीचे छोड़ दीजिये बीच में ८०० योजन रहे उसमें व्यंतर देवों के रमणीक गृह हैं. वे पृथ्वी काय सम्बन्धी नगर असंख्याते हैं.

अब व्यंतर के घर के आकार कहते हैं:—

बाहिं वट्टा अंतो ॥ चउरंस अहोअ कणिण-यायारा ॥ भवणवईणं तह वंतराण ॥ इंद भवणाओ नायव्वा ॥ ३१ ॥

भावार्थः—उन गृहों के बाह्य भाग वृत्ताकार (गोल) हैं. और भीतर से चोखूण हैं. तथा अधोभाग में यानि नीचे से कमल की कर्णिका के आकार में है. व्यन्तर और भुवनपति इन दोनों के भुवन भी ऐसेही हैं.

तहिं देवा वंतरिया ॥ वर तरुणी गीय वाइय रवेणं ॥ निच्चं सुहिया पमुइया ॥ गयंपि कालं नयाणंति ॥ ३२ ॥

---

* जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं रत्नप्रभा एकही पिंड नहीं बीच मे खाली जगह भी है जिसमे देवों के भुवन हैं.

भावार्थः-उन भुवनों में जो व्यंतरिक देव रहते हैं वे प्रधान यानि अच्छी, सौभाग्यवंती, सुहामणी, अति सुन्दर और कुसुमलता के समान है सुगन्ध जिनकी ऐसी देदीप्यमान तरुणी देवियों के साथ रहते हुए मनको प्रियकारी ऐसे मधुर वचन से गीत गाते और सुनते हैं। तथा बत्तीस बद्ध नाटक की रचना कर मृंगादिक नाना प्रकार के वाजित्र बजाते हैं और उन के शब्दादि द्वारा वे देव निरंतर सुखी है । तथा इतने प्रमुदित यानि हर्षवान रहते है कि जाते हुए काल का भान भी नहीं होता.

अब उन व्यंतर देवों के नगर का प्रमाण तथा निकाय के नाम कहते हैं:-

ते जंबुद्दीव भारह ॥ विदेह सम गुरु जहन्न मज्झिमग्गा ॥ वंतर पुण अट्ठविहा ॥ पिसाय भूया तहा जक्खा ॥ २३ ॥ रक्खस किंनर किंपुरिसा ॥ महोरगा अट्ठमाय गंधव्वा ॥ दाहिण उत्तर भेया ॥ सोलस तेसिं इमे इंदा ॥ २४ ॥

भावार्थः-व्यंतर देवों के नगर जो बड़े हैं वे तो जंबुद्वीप के बराबर एक लाख योजन के गोल आकार में हैं। और जो

छोटे नगर हैं वे भरत क्षेत्र के बराबर यानि ५२६ योजन छः* कला के हैं। और जो मध्यम भुवन हैं वे विदेह यानि महाविदेह प्रमाण-३३६८४ योजन ४ कला के हैं। उन नगरों में जो आठ प्रकार के व्यंतर देव रहते हैं उनके नाम यह हैं:-१ पिशाच, २ भूत, ३ यक्ष, ४ राक्षस, ५ किन्नर, ६ किंपुरुष, ७ महोरग और ८ गंधर्व।

व्यंतर देवों की आठ निकाय है और प्रत्येक निकाय में एक दक्षिण श्रेणी के व एक उत्तर श्रेणी के यों दो दो इन्द्र हैं. सब मिलकर आठ जाति के व्यंतर के १६ इन्द्र हैं।

कालेय महाकाले ॥ सुरूव पडिरूव पुन्न भद्दय ॥ तह चेव माणिभद्द ॥ भीमेय तहा महा भीमे ॥ ३५ ॥ किंनर किंपुरिसे सप्पुरिसा ॥ महा पुरिस तहय अइकाए ॥ महाकाय गीयरई ॥ गीयजसे दुन्नि दुन्नि कमा ॥ ३६ ॥

भावार्थः-पिशाच नामा पहिली दो व्यंतर, निकाय के दक्षिण दिशि के कालेन्द्र और उत्तरदिशि के महाकालेन्द्र है, इसी अनुक्रम से भूत निकाय के स्वरूपेन्द्र, प्रतिरूपेन्द्र, यक्ष

* एक योजन की १९ कला होती हैं.

निकाय के पूर्णभद्र तथा माणिभद्र. राक्षसनिकाय के भीमेन्द्र, महाभीमेन्द्र, किन्नरनिकाय के किन्नरेन्द्र, किंपुरुषेन्द्र किंपुरुष-निकाय के सत्पुरुषेन्द्र, महापुरुष, महोरग निकाय के अतिकाय महाकाय, गंधर्व के गीत रति, गीत यश, यों आठ निकाय के दो दो इन्द्र अनुक्रम से समझ लेना.

अब पिशाचादिक आठ निकाय के देवों की ध्वजा में जो चिन्ह रहते हैं वे कहते हैं।

चिंधं कलंब सुलसे ॥ वड खट्टंगे असोग चं-पयए ॥ नागे तुंबरूअ ज्भ्फए ॥ खट्टंगे विवज्जिया रूक्खा ॥ ३७ ॥

भावार्थः—पिशाच के कदंब वृक्षका चिन्ह, भूत के सुलस वृक्षका चिन्ह, राक्षस के खट्टंग यानि महावृति नाम का तापस विशेष के उपकरण का चिन्ह, किन्नर के अशोक वृक्षका चिन्ह, किंपुरुष के चंपकवृक्ष का चिन्ह, महोरग के नागवृक्ष का चिन्ह, गंधर्व के तुंबरा के वृक्ष का चिन्ह, इन में एक खट्टांग के अला-वा शेष सबके वृक्षके चिन्ह हैं वे चिन्ह व्यंतर देवों की ध्वजा में होते हैं।

अब व्यंतर देवों के शरीर का वर्ण कहते हैं.

जक्ख पिसाय महोरग ॥ गंधव्वा साम किं-
न्नरा नीला ॥ रक्खस किंपुरिसाविय ॥ धवला
भूया पुणो काला ॥ ३८ ॥

भावार्थः—एक जक्ष, दूसरा पिशाच, तीसरा महोरग, चौथा गंधर्व इन चारों का श्यामवर्ण (किंचित् कृष्णवर्ण) है। और किन्नर अधिक श्याम वर्ण मगर किंचित् नीलवर्ण के होते हैं। और राक्षस तथा किंपुरुष उज्वल वर्ण के होते हैं। तथा भूत निकाय के देव सर्वथा कृष्ण (काले) वर्ण के होते हैं।

अब आठ प्रकार के व्यंतर अर्थात् दूसरे व्यंतर विशेष देव कहते हैं.।

अणपन्नी पणपन्नी ॥ इसिवाई भूइवाईए
चेव ॥ कंदीय महाकंदी ॥ कोहंडे चेव पयगए॥३९॥
इय पढमे जोयण सए ॥ रयणाए अट्ठ वंतरा
अवरे ॥ तेसु इह सोलसिंदा रुयग अहो दाहि-
णुत्तरओ ॥ ४० ॥

भावार्थः—एक आणपन्नी निकाय, दूसरा पणपन्नी निकाय तीसरा ऋषिवादी निकाय, चोथा भूतवादी निकाय, पांचवां कंदित निकाय, छट्ठा महाकंदित निकाय, सातवां कोहंडिक नि-

काय, आठवां पतंग निकाय ये आठ निकाय के व्यंतर देव रत्नप्रभा पृथ्वी के सो योजन के उपरके मृत्तिका पिंडसे दश योजन ऊपर छोडिये और दशयोजन निचे छोडिये विचमें ८० योजन की पोलार है उसमें रहते हैं। आगे जो आठ प्रकार के व्यंतर कहे गये हैं उनसे ये भिन्न समझना। आठ रुचक प्रदेश से दश योजन निचे* के जो ८० योजन हैं उसमें रहेहुए दक्षिण और उत्तरदिशि के भेद से सोलह इन्द्र हैं। जिनके नाम अत्र कहते हैं।

सनिहिए सामाणे ॥ धाइ विहाए इसीय इसिवाले ॥ ईसर महेसरे विय ॥ हवई सुवत्थे विसालेय ॥ २१ ॥ हासे हास रईविय ॥ से एय भवे तहा महासेए ॥ पयगे पयगवईविय ॥ सोलस इंदाण नामाइं ॥ २२ ॥

भावार्थः-एक संनिहित इन्द्र, दूसरा सामान्य इन्द्र, तीसरा धाता इन्द्र, चौथा विधाता इन्द्र, पांचवां रुपी इन्द्र, छट्ठा रुपी पालेन्द्र, सातवां ईश्वर इन्द्र, आठवां महेश्वर इन्द्र, नव्वां सुवत्थ इन्द्र, दशवां विशाल इन्द्र, ग्यारहवां हास्य इन्द्र, बारहवां हास्यरति इन्द्र, तेरहवां स्वेत इन्द्र, चौदहवां महास्वेत इन्द्र, पन्द्रहवां

पतंग इन्द्र, सोलहवां पतंगपति इन्द्र, ये १६ इन्द्र के नाम कहे ये सोलह इन्द्र वाण व्यंतर के कहे गये हैं। सब मिलकर ३२ इन्द्र व्यंतर के हुये. तथा भुवनपति के २० इन्द्र, ज्योतिषी के दो इन्द्र चंद्रमा और सूर्य (यद्यपि चंद्रमा सूर्य असंख्य होने से ज्योतिषी के असख्य इन्द्र होते हैं तथापि जाति की अपेक्षा से दो इन्द्र गिने जाते हैं) तथा वैमानिक के दश इन्द्र मिलकर चौसठ इंद्र हैं (जो तीर्थंकरों के पांच कल्याणक महोत्सव करने आते हैं).

अब व्यंतर तथा ज्योतिषी इन दोनों की समान ही वक्तव्यता होने से उनके सामानिक देवों तथा आत्मरक्षक देवों की सख्या कहते हैं.

सामाणियाण चउरो ॥ सहस्स सोलसय आयरक्खाणं ॥ पत्तेयं सव्वेसिं ॥ वंतर वइससि रवीणंच ॥ ४३ ॥

भावार्थः—व्यन्तर के ३२ इन्द्रों को तथा ज्योतिषी के चंद्रमा और सूर्य इन दो इन्द्रों को प्रत्येक को चार चार हजार सामानिक देव हैं और सोलह सोलह हजार आत्मरक्षक देव हैं.

अब समस्त देवों के कितने प्रकार हैं वह कहते हैं.

इंद सम तायतीसा ॥ परिसातिया रक्ख लोगपालाय ॥ अणिय पइन्ना अभिओगा ॥ किव्बिसं दस भवण वेमाणी ॥ ४४ ॥

भावार्थः-(१) इंद्र, (२) सामानिक देव, (३) त्राय त्रिंशक देव, (४) तीन परिषद् देव, (५) अंगरक्षक देव, (६) चार लोकपाल, (७) सैनिक देव, (८) प्रकीर्ण प्रजा के देव, (९) अभियोगिक याने किंकर देव, (१०) किल्विषीक देव, यह दश प्रकार के देव भुवनपति, व्यंतर तथा वैमानिक में है.

अथ कटक (सैनिक) देवो के सात प्रकार कहते हैं.

गंधव्व नट्ट हय गय ॥ रह भड़ अणियाणि सव्व इंदाणं ॥ वेमाणियाण वसहा ॥ महिसाय अहोनिवासीणं ॥ ४५ ॥

भावार्थः-(१) गांधर्व (मृदंगधर) (२) नट्ट यानि नाटक करने वाले देव, (३) हय यानि घोड़े का सैनिक (४) गय यानि हाथी का कटक (५) रथ का कटक (६) पैदल का कटक यह छ प्रकार के कटक सर्व इन्द्रों के होते हैं. और वैमानिक के सातवां वृषभ का कटक होता है. और

अधोनिवासी देव (भुवनपति तथा व्यंतर) के सातवां महिष (भैंसा) का कटक होता है. (भैंसा वगैरह पशू नहीं किन्तु देवों को ऐसा रूप लेना पड़ता हैं)

अब त्रायत्रिंशकादिक देवा की संख्या प्रत्येक इन्द्र की कहते हैं.

तित्तीस तायत्तीसा ॥ परिसातिआ लोगपाल चत्तारि ॥ अणियाण सत्त सत्तय ॥ अणियाहिव सव्व इंदाणं ॥ ४६ ॥

भावार्थः–तेतीस त्रायत्रिंशक देव हैं. त्रायत्रिंशक देव, देवताओं में गुरु समान गिने जाते हैं। इन्द्र के सलाहकार तथा सर्व देवों में पूजनिक है। परिषदा तीन हैं, १ बाह्य २ अभ्यंतर और ३ मध्यम। लोकपाल चार हैं:–१ सोम, २ यम, ३ वरुण और वैश्रमण (कुबेर) तथा प्रत्येक इन्द्र सात प्रकार की सेना के अधिपति होते हैं.

नवरं वंतर जोइस ॥ इंदाण न हुंति लोगपालाओ ॥ तायत्तीसभिहाणा ॥ तियसाविय तेसिं नहु हुंति ॥ ४७ ॥

भावार्थः–मगर इतना विशेष है कि व्यंतर के बत्तीस इंद्र के तथा ज्योतिषी के दो इन्द्र के लोकपाल नहीं होते हैं तथा

त्रायत्रिंशक नामक देव भी व्यंतर तथा ज्योतिषी के इन्द्रों के नहीं होते हैं।

अब ज्योतिषी देवों के विमान की वक्तव्यता करते हैं. ज्योतिषीदेव तिर्यक्लोक में है. वह तिर्यक्लोक मेरुमध्य रुचकप्रदेश से नवसो योजन ऊपर व नवसो योजन नीचे मिलकर अठारहसो योजन प्रमाण है. उनमें से ऊंचे के नवसो योजन में से कितने योजन में ज्योतिषी के विमान हैं सो कहते हैं.

समभूतलाओ अट्ठहिं। दसूण जोयणसएहिं आरम्भ ॥ उवरि दसूत्तर जोयण ॥ सयंमि चिट्ठंति जोइसिया ॥ ४८ ॥

भावार्थः—मेरुपर्वत के मध्य भाग में आठ रुचक प्रदेश हैं उसको समभूतल कहते है। वहां से आठसो योजन में दस योजन कम यानि ७९० योजन ऊंचे से ज्योतिषचक्र का आरम्भ होता है। और इसके ऊपर ११० योजन में ज्योतिषी देव रहते हैं।

अब ज्योतिषी देव एकसो दश योजन में किस प्रकार हैं सो कहते हैं:—

तत्थ रवी दस जोयण ॥ असीइ तदुवरि

ससीय रिक्खेसु ॥ अह भरणि साइ उवरिं ॥
वहि मूलो भिंतरे अभिई ॥ ४९ ॥

भावार्थः—ज्योतिष चक्र के प्रारम्भ से १० योजन ऊंचा सूर्य है. उसके ८० योजन उपर चन्द्रमा है. और उसके ४ जोजन उपर नक्षत्र हैं. एक चंद्र और एक सूर्य के परिवार में २८ नक्षत्र होते हैं उनमें से भरणी नक्षत्र सब के नीचे चलता है. और स्वाति नक्षत्र सर्व नक्षत्रों से उपर चलता है. तथा मूल नक्षत्र सर्व नक्षत्रों से बाहिर के मंडल में (क्रांतिवृत्त में) चलता है. और सर्व नक्षत्र के बीच में अभिजित नक्षत्र चलता है.

तार रवि चन्द रिक्खा ॥ बुह सुक्का जीव मंगल सणिया ॥ सग सय नउय दस असिइ ॥ चउ चउ कमसो तिया चउसु ॥ ५० ॥

भावार्थः—समभूतला पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर तारा मंडल है. वहां से १० योजन ऊंचे सूर्य है. वहां से ८० योजन ऊंचे चंद्रमा है. चंद्रमा से चार योजन उपर नक्षत्र है. वहां से चार योजन ऊंचे बुध नामा गृह है. वहां से तीन तीन योजन के अंतर में ऊंचे शेष चार गृह हैं अर्थात् बुध से तीन योजन ऊंचा शुक्र, शुक्र से तीन योजन उपर जीव बृहस्पति, बृहस्पति से

तीन योजन ऊंचा मंगल और मंगल से तीन योजन ऊपर शनिनामा गृह है. इस प्रकार समभूतल से सातसो नव्वे योजन ऊपर से शुरु होकर ११० योजन में ज्योतिष चक्र है. सबसे ऊंचा जो शनिश्चर है वह समभूतल से नवसो योजन ऊंचा चलता है. यहां पर योजन प्रमाणांगुल के (साधारण योजन से २५० गुणा) समझने चाहियें.

अब मनुष्य क्षेत्र में चर ज्योतिषी मेरुपर्वत से कितने योजन दूर चलते है और तिर्यक् लोक के अखीर में अलोक से कितने योजन भीतर ज्योतिषी के स्थिर विमान हैं सो कहते हैं।

इक्कारस जोयण सय ॥ इगवीसि क्कार साहिया कमसो ॥ मेरु अलोगावाहिं ॥ जोइस चक्कं चरइ ठाइ ॥ ५१ ॥

भावार्थ — मेरुपर्वत से ग्यारहसो इक्कीस योजन से कुछ अधिक दूर ज्योतिष चक्र चलते हैं। और तिर्यक् लोक के अंतसे ग्यारहसो ग्यारह योजन भीतर ज्योतिष चक्र स्थिर है। मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप) में तो ज्योतिष चक्र चर है और ढाई द्वीपके बाहिर असंख्याता द्वीप समुद्रमें ज्योतिष चक्र स्थिर है।

अद्ध कविठ्ठागारा॥ फलिहमया रम्मजोइस वि-
माणा॥ वंतर नयरेहिंतो॥ संखिज्ज गुणा इमे
हुंति॥ ५२॥

भावार्थः-चंद्रादिक ज्योतिषी के विमान * अर्ध कोठ फल (कैत) के आकार के हैं। स्फाटिक रत्नमय हैं। रमणिक यानि देखने योग्य तथा मनको आल्हादकारी हैं। पूर्वकथित व्यंतर देवों के असंख्यात् नगरों से भी संख्यात गुणे अधिक ये ज्योतिषियों के विमान हैं.

ताइ विमाणाइं पुण॥ सव्वाइं हुंति फालिहमयाइं
दग फालीहमया पुण॥लवणे जे जोइस विमाणा५३

---

* यहां कोइ ऐसी शका करे कि ज्योतिषियों के विमान अर्ध कविठ फल के आकार के हैं तो फिर उदय, अस्त और तिर्यक् परिभ्रमण के समय अर्ध कोठ फलके आकार मे क्यों नहीं दिखते हैं? प्रत्यक्ष में तो वृताकार ही दिखते है इसका क्या कारण? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि:- ज्योतिषियों के विमान सर्वथा अर्ध कोठ फल के आकार के नही है। किन्तु विमान की पीठ परिध अर्ध कोठफल के आकार में है। उसके उपर चन्द्रादिक ज्योतिषियों के प्रासाद हैं वे प्रासाद वर्त्तुलादिक कोई भी संस्था न में रहे हुए वर्त्तुलाकार दिखते हैं॥ वक्रआकार भी दूरसे वृताकार प्रतिभासवें हैं.

भावार्थः—ज्योतिषियों के विमान सर्व स्फटिक रत्न के हैं. मगर लवण समुद्र में भी ज्योतिषी के विमान हैं वे उदक स्फटिक रत्नके हैं क्योंकि लवण समुद्रकी शिखा दश हजार योजन चौड़ी और सोलह हजार योजन ऊंची है। और ज्योतिषी के विमान तो नवसो योजन तक ऊंचे हैं। वे सब विमान लवण समुद्र की शिखा के भीतर चलते हैं परन्तु उदक स्फटिक रत्न के प्रभाव से पानी फटकर अलग हो जाता है अतः उन विमानों को पानी के भीतर चलने में बाधा नहीं होती है। जिस स्फाटिक के संयोग से पानी फट जावे उसको उदक स्फाटिक कहते हैं.

जोयणि गसट्ठि भागा ॥ छप्पन्नऽडयालगाउदु इगद्धं॥चंदाइ विमाणायाम॥वित्थडा अद्ध मुच्चत्तं५४

भावार्थः—एक योजन के ६१ भाग करें उनमें से ५६ भाग जितना लंबा तो चन्द्रमा का विमान है और ४८ भाग जितना सूर्य का विमान है। गृहोंके विमान दो २ गाउ (कोस) के हैं। नक्षत्रों के विमान एक २ गाउके हैं और ताराके विमान अर्द्ध २ गाउके हैं. कोई कोई छोटे भी हैं। इस प्रकार पांच जातके ज्योतिषी देवों के विमान की लम्बाई और चौडाई समझ लेना और उंचाई इससे आधी होती है। ये उत्कृष्ट आयु वाले तारों के विमान का प्रमाण समझना। मगर जघन्यायु वाले तारों के विमान का

प्रमाण इस प्रकार है:—लम्बाई और चोड़ाई पांचसो धनुष्य और उंचाई ढाइसो धनुष्य की।

अब मनुष्य लोक का प्रमाण व मनुष्य क्षेत्र के बहार के स्थिर चन्द्रादि पांचों ज्योतिषी के विमान का स्वरूप कहते है.

पणयाल लक्ख जोयण ॥ नरखित्तं तत्थिमे सया भमिरा ॥ नर खित्ताउ बहिं पुण ॥ अ-द्धपमाणा ठिया निच्चं ॥ ५५ ॥

भावार्थः—४५ लाख योजन लम्बा चौड़ा मनुष्य क्षेत्र है. उसमें ज्योतिषी के जो विमान है वे सदाकाल भ्रमणशील है यानि अनादिकाल से घूमते रहे है और अनन्त काल पर्यन्त घूमते ही रहेंगे. मनुष्य क्षेत्र से बाहिर जो पांच प्रकार के ज्यो-तिषी के विमान है उनका प्रमाण पूर्व कथित चर विमानों के प्रमाण से * आधा है. और वे सब के सब विमान नित्य स्थिर ही रहते हैं.

अब मनुष्य क्षेत्र में भ्रमण करने वाले ज्योतिषी देवो की गति तथा उनके विमानवाहक देवो की संख्या कहते है.

---

* स्थिर चंद्र $\frac{२८}{६१}$ योजन स्थिर सूर्य $\frac{२४}{६१}$ योजन, स्थिर ग्रह १ गाउ, स्थिर नक्षत्र अर्ध गाउ और स्थिर तारा पाव गाउ के लम्बे चोड़े हैं। और उंचाई मे अर्द्धप्रमाण जानना.

ससि रवि गह नक्खत्ता ॥ ताराओ हुंति जहुत्तरं सिग्धा ॥ विवरीयाउ महाद्दिढअ ॥ विमाण वहगा कमेणेसिं ॥५६॥ सोलस सोलस अड चउ दो सुर सहस्सा पुरोय दाहिणओ ॥ पच्छिम उत्तर सीहा ॥ हत्थी वसहा हया कमसो॥ ५७ ॥

भावार्थः—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इसी अनुक्रम से शीघ्रतर गति समझिये. चन्द्रमा की चलने की गति सबसे मंद है उससे सूर्य की गति शीघ्रतर है, उससे ग्रह की गति शीघ्र है. उससे नक्षत्र की गति शीघ्रतर और नक्षत्र से तारा की गति शीघ्रतर है. उनमें भी बुध आदि ग्रहों की गति में भी न्यूनाधिक्य है जैसे कि बुध की गति सब ग्रहों में मंद है उससे क्रमशः उपर के ग्रहों की गति शीघ्रतर है. यथा बुध से शुक्र की गति शीघ्र, शुक्र से मंगल की शीघ्र, मंगल से बृहस्पति की और बृहस्पति से शनिश्वर की गति शीघ्र है. और गति से विपरीत महर्द्धिक पणा समझना चाहिये जैसा कि सर्व से अल्प ऋद्धिवंत तारा है, तारे से नक्षत्र महर्द्धिक, नक्षत्र से ग्रह महर्द्धिक, ग्रह से सूर्य महर्द्धिक, और सूर्य से चन्द्रमा महर्द्धिक है.

अब उनके * विमानवाहक देवों की संख्या अनुक्रम से कहते हैं. चन्द्रमा के १६ हजार विमानवाहक देव हैं. सूर्य के भी १६ हजार विमानवाहक हैं. ग्रह के आठ हजार, नक्षत्र के चार हजार और तारा के दो हजार विमानवाहक देव हैं. यहां भावार्थ तो यह है कि जगत् स्वभाव से चंद्रादिक के विमान किसी का अवलम्बन लिये विना स्वतः भ्रमण कर रहे हैं. परन्तु आदेशकारी देव अपनी प्रभुता बतलाने के लिये अथवा समान ऋद्धिवाले देवों में बहुमान दिखलाने के हेतु से स्वभाव से ही वे सेवक देव विमान के नीचे सिंहादिक के रूप धारण करके वहते हैं. मगर इन आभियोगिक देवों को विमानके नीचे वहन करने से विमान का भार मालुम नहीं होता है. जिस प्रकार किसी उन्नत स्त्री को अनेक आभूषण परिधान करते हुए भार मालूम नहीं होता है किंतु वे मनमें आनंद पाती है उसी प्रकार आभियोगिक देवों को भी तथाविध कर्मोदय के प्रभाव से भ्रमण करने में भी रति होती है. जिससे स्वस्वभाव से निरंतर वहने वाले विमानों के नीचे वे भी भ्रमण करते रहते हैं. मूल शरीर से तो वे देवियों के साथ काम क्रीडा करते हैं और उत्तर वैक्रिय शरीर से विमानवाहक का कार्य भी करते हैं.

---

* विमानवाहक=आकाश में विमान को वहन करने वाले देव.

ये पांचों ज्योतिषी के विमानों के चलाने वाले देव चारों दिशि में चार भाग में विभक्त होकर पृथक् २ रूप में वहते हैं. पूर्व दिशि में सिंह के रूप में, दक्षिण दिशि मे हाथी के रूप में, पश्चिम दिशि में वृषभ के रूप में और उत्तर दिशि में अश्व के रूप में रहकर विमानवाहक देव वहन करते हैं.

अब चन्द्रमा का परिवार कहते हैं:-

गह अट्ठासी नक्खत्त। अडवीसं तार कोडि कोडीणं। छासट्ठि सहस्स नवसय। पणहत्तरि एग ससि सिन्नं ॥ ५८ ॥

भावार्थः-मंगलादिक अठ्यासी ग्रह हैं। अभिजित प्रमुख अठ्ठावीस नक्षत्र हैं तथा छासठ हजार नवसो पंचोतर कोड़ा कोड़ी तारा है ये सर्व एक चन्द्रमा का सैन्य यानि परिवार है.

यहां शिष्य पूछते हैं कि मनुष्य क्षेत्र तो ४५ लाख योजन का है और तारे की संख्या अत्यधिक है जिसमे इतने कम क्षेत्र में समावेश नहीं हो सकता है तो यह बात कैसे मान ली जावे ? इस आशंका को दूर करने के लिये निम्नलिखित गाथा कहते हैं.

कोडाकोडी सन्नं। तरंतु मन्नंति खित्त थोवतया। केई अन्नेउस्से। हंगुल माणेण ताराणं ॥ ५६ ॥

भावार्थः—यहां दो मत हैं:-कुछ आचार्यों का तो यह अभिप्राय है कि कोडा कोडी में संज्ञांतर (नामांतर) है ज्यों बीस को भी कोड़ी कहते है। इस प्रकार कोड़ी-कोटी की संज्ञा कोई मानते है. क्योंकि मनुष्य क्षेत्र की भूमि तो थोड़ी है और तारे अधिक हैं. जब किन्हीं आचार्यो का यह मन्तव्य है कि तारे के विमान का जो मान बतलाया गया हैं वह प्रमाणांगुल नहीं मगर उत्सेधांगुल का बतलाया है. ऐसा करने से प्रमाणांगुल क्षेत्र में उत्सेधांगुल के विमान समा सकते हैं विशेषणवृत्ति ग्रंथ में श्री जिनभद्रगण क्षमाश्रमणने यही समाधान किया है. " नरपुढवि विमाणाइ मिणसुपमणं गुलेणच " यह पाठ प्रायिक है. यहां चारसो उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल समझना चाहिये किन्हीं ग्रन्थों में एक हजार उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल होता है ऐसा उल्लेख है. अतः क्षेत्र के अल्पत्व के कारण जो दोषापत्ति होती है उसे दूर करने के लिये तारे के विमानों का प्रमाण उत्सेधांगुल का मानते है।

अब* राहु की वक्तव्यता कहते हैं:-

किण्हं राहु विमाणं। निचं चंदेण होइ अविरहियं।
चउरंगुल मप्पत्तं। हिठ्ठा चंदस्स तं चरइ ॥ ६० ॥

---

* ८८ ग्रहों में राहु भी आजाता है.

भावार्थः-राहु का विमान काला (श्याम वर्ण का) है। और नित्यप्रति वह चंद्रमा के विमान से अविरहित रहता है यानि कदापि काल में चंद्रमा से वह अलग नहीं होता। सिर्फ चार अंगुल दूर चंद्रमा के विमान से नीचे रहा हुआ राहु का विमान चलता है।

राहु के विमान दो प्रकार के हैं। एक नित्य राहु और दूसरा पर्व राहु। उनमें से पर्व राहु जघन्य छः महिने में सूर्य और चंद्र्ण को ग्रहण करता है यानि अपने विमान से उनके विमानों को ढांक देता है उत्कृष्ट पणे चंद्रमा को ४२ महिने में ग्रहण करता है और सूर्य को ४८ वर्षमें ग्रहण करता है। राहु के समान कोई २ समय केतु भी ग्रहण करता है।

दूसरा नित्य राहु का विमान भी काले वर्ण का है. चन्द्रमा के साथ ही साथ सर्वदा भ्रमण करता है। चद्रमा से चार अंगुल नीचे वह चलता है। कृष्ण पक्ष में रोजाना चंद्रमंडल के पन्द्रहवें हिस्से को ढांकता रहता है और शुक्ल पक्ष में रोजाना पन्द्रहवें हिस्से को छोडता रहता है। जिससे चन्द्रमा की हानि वृद्धि अपन को दृष्टिगोचर होती है. यहां कोई प्रश्न करे कि चन्द्रमा का विमान बड़ा है और राहु का विमान तो छोटा है तो फिर राहु से चन्द्रमा क्योंकर ग्रसित हो सकता है? उसका उत्तर यह है कि:-ग्रहों का विमान दो कोश का कहा है वह

प्रायिक (बहुलता की अपेक्षा कहा हुआ) है. अतः प्रायिक शब्द निश्चयवाचक नहीं है. जिससे ग्रहों के विमान का जो प्रमाण आगे कहा गया है उससे अधिक भी होना संभवित है. और किन्हीं आचार्यों का यह अभिप्राय है कि राहुका विमान छोटा होने पर भी बहुत काला है जिससे आच्छादन कर सकता है. काली चीज छोटी होवे तो भी उज्वल बड़ी चीज को ढांक सकता है. जिस प्रकार मसी के एक ही बुंद से स्फाटिक का टुकड़ा श्याम दिखता है उसी प्रकार राहु के योग से चन्द्रमा काला दिखता है।

अब तारे के विमानो का व्याघात तथा निर्व्याघात अंतर कहते है.

तारस्सय तारस्सय ॥ जंबूद्दीवंमि अंतरं गुरुयं ॥
बारस जोयण सहस्सा ॥ दुन्निसया चेव बायाला॥२१

भावार्थः-एक तारे के विमान से दूसरे तारे का विमान जंबूद्वीप में ज्यादे से ज्यादा १२२४२ योजन दूर होता है. यह अतर मेरूपर्वत के व्याघात से होता है जैसे कि मेरूपर्वत सम-भूतला के पास दस हजार योजन का चौड़ा है पुनः मेरू से चारों ओर ११२१ योजन दूरसे तारा मंडल शुरु होता है। अतः १०००० योजन मेरूपर्वत के तथा दोनो ओर के ११२१+

११२१=२२४२ योजन मिलकर कुल १२२४२ योजन का उत्कृष्ट अंतर तारे के बीच में है.

अब व्याघात तथा निर्व्याघात से घन्य तथा उत्कृष्ट अंतर कहते हैं.

निसढोय नीलवंतो ॥ चत्तारिसय उच्च पंच सय कूडा ॥ अर्द्ध उवरिं रिक्खा ॥ चरंति उभय ट्ठ बाहाए ॥ ६२ ॥ छावठ्ठा दुन्निसया ॥ जहन्नमेयं तु होइ वाधाए॥ निव्वाधाए गुरू लहु ॥ दोगाउय धणुसया पंच ॥ ६३ ॥

भावार्थः-निषध तथा नीलवंत ये दो पर्वत चारसो योजन ऊंचे हैं। और इन दोनों पर्वतों के ऊपर पांचसो २ योजन ऊंचे तथा उपर में ढाईसो योजन चौड़े, मध्य में पोणा चारसो योजन चौड़े व नीचे पांचसो योजन चौड़े ऐसे नव नव कूट (शिखर) हैं। यों सब मिलकर नवसो योजन की उंचाई हुई उक्त शिखर के दोनों तरफ आठ आठ योजन की दूरी पर नक्षत्र के विमान विचरते हैं. अतः २५० योजन की शिखर की चौड़ाई तथा दोनों तरफ के आठ २ योजन की अवाधा मिलकर दोसो छासठ योजन का जघन्य अंतर पर्वतादिक के

व्याघात से होता है. और व्याघात रहित उत्कृष्ट अंतर दो गाउका तथा जघन्य अन्तर पांचसो धनुष्य का है. इस प्रकार श्री सूरपन्नति तथा जीवाभिगम आदि सूत्रों में कहा है. परन्तु वडी संघयणी तथा जंबुद्वीपपन्नति में यह व्याघात निर्व्याघात का उल्लेख नहीं है ।

अब मनुष्य क्षेत्र की वाहिर घंटाकार मे स्थिर रहे हुए चन्द्र तथा सूर्य का अन्तर वतलाते हैं:-

माणुस नगाउ बाहिं ॥ चंदा सूरस्स सूर चंदस्स ॥
जोयण सहस्स पन्नास ॥ णुणगा अंतरं दिट्ठं ॥६४॥

भावार्थः-मनुष्य क्षेत्र की मर्यादा कारक जो मानुष्योत्तर नामक पर्वत है उससे वाहिर की ओर जो चन्द्रमा व सूर्य हैं उनमें चन्द्रमा से सूर्य तक और सूर्य चन्द्रमा तक पचास हजार योजन का पूरा अंतर है. ऐसा श्री तीर्थंकर ने देखा है.

अब चन्द्रादिक ज्योतिषी के विमान का प्रमाण कहते हैं ।

पूर्वकी गाथामें सूर्यसे ५० हजार योजन दूर चंद्रमा व चन्द्रमासे ५० हजार योजन दूर सूर्य है ऐसा मालूम हुआ अब एक सूर्य से दूसरे सूर्य तक व एक चंद्रसे दूसरे चंद्रतक कितना अंतर है ? सो कहते हैं.

ससि ससि रवि रवि साहिय ॥ जोयण लक्खेण अंतरं होइ ॥ रवि अंतरिया ससिणो ॥ ससि अंतरिया रवि दित्ता ॥ ६५ ॥

भावार्थः—चंद्र चद्रके बीचमें और सूर्य सूर्यके बीचमें एक लाख योजन से कुछ अधिक अंतर है क्योंकि दो सूर्यके अंतरमें चन्द्रमा और दो चन्द्रमा के अंतर में सूर्य होने से दोनों सूर्यके बीच १ लाख योजन पर $\frac{४८}{६१}$ योजन का अंतर है और दोनों चन्द्रमा के बीच १ लाख योजन पर $\frac{५६}{६१}$ योजन का अंतर है ।

वहियाउ माणुसुत्तर ॥ चंदा सूरा अवट्ठि उज्जोया ॥ चंदा अभीय जुत्ता ॥ सूरा पुण हुंति पुस्सेहिं ॥ ६६ ॥

भावार्थः—मानुष्योत्तर पर्वत के बाहिर जो चन्द्रमा और सूर्य हैं वे अवस्थित यानि निश्चल हैं। और सदाकाल एकसा उद्योत करते हैं । सूर्य अधिक तपता नहीं है और चन्द्रमा अधिक शीतलता नहीं करता है । वहां पर चंद्रमा सदैव अभिजित् नक्षत्र से युक्त और सूर्य सदैव पुष्य नक्षत्र होते हैं.

उद्धार सागर दुगे ॥ सड्ढे समएहि तुल्ल दीवु-

दही ॥ दुगुणा दुगुण पवित्थर ॥ वलयागारा पढम वज्जं ॥ ६७ ॥

भावार्थः-ढाई उद्धार सागरोपम के जितने समय होवे उतने द्वीपसमुद्र हैं. प्रथम जंबुद्वीप से लेकर अखीरी स्वयंभूरमण समुद्र तक वे एक एकसे दुगुने होते चले आये हैं. यानि पहिले से दूसरा दुगुना, दूसरे से तीसरा दुगुना इसभांति द्वीपसे समुद्रका विस्तार व समुद्र से द्वीपका विस्तार दुगुना क्रमशः होता चला गया है। उन असंख्य द्वीप समुद्रमें मध्यका एक जंबूद्वीप थाली के आकार का है शेष सर्व द्वीप समुद्र वलयाकार अर्थात् चूडी के आकार के हैं।

पढमो जोयण लक्खं ॥ वट्टोतं वेढिउ ठिया सेसा ॥ पढमो जंबूद्दीवो ॥ सयंभुरमणोदही चरमो ॥ ६८ ॥

भावार्थः-सबसे पहिला यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन का गोल थाली के आकार का है। शेष सर्व द्वीप समुद्र एक दूसरे को लपेट के रहा है। सर्व में पहिला जम्बूद्वीप है और सबसे अखीर का स्वयंभुरमण नामक समुद्र है.

अब कुछ द्वीप और समुद्र के नाम कहते हैं।

जंबुधायइ पुक्खर ॥ वारुणिवर खीर घय खोय नंदीसरा ॥ अरुण रुणवाय कुंडल ॥ संख रुयग भुयग कुस कुंचा ॥ ६६ ॥

भावार्थः-प्रथम जंबुद्वीप, दूसरा धातकी खंड द्वीप तीसरा पुष्कर द्वीप, चौथा वारुणीवर द्वीप, पांचवां चीरवर द्वीप, छट्ठा घृतवर द्वीप, सातवां इक्षुवर द्वीप, आठवां नंदीश्वर द्वीप, नवमा अरुण द्वीप (रुणवाय शब्द का दूसरा अर्थ अरुणोपपात ऐसा होता है किन्तु इस शब्द से यही अभिप्राय समझना चाहिये कि इसके आगे जो जो द्वीप हैं. उनमें एक एक नाम से तीन २ द्वीप का ज्ञान वर और वरावभास के प्रयोग से होवेगा) दशवां अरुणवर द्वीप. ग्यारहवां अरुणवरावभास द्वीप, बारहवां कुंडलद्वीप, तेरहवां कुंडलवर द्वीप, चौदहवां कुंडलवरावभासद्वीप, पन्द्रहवां संख द्वीप, सोलहवां संखवर द्वीप, सतरहवां संखवरावभास द्वीप, अठारहवां रुचक द्वीप, उन्नीसवां रुचकवर द्वीप, बीसवां रुचकवरावभास, इक्कीसवां भुजंग, बाईसवां भुजंगवर, तेइसवां भुजंगवरावभास, चौवीसवां कुस, पचीसवां कुसवर, छब्बीसवां कुसवरावभास, सत्तावीसवां क्रौंच, अट्ठावीसवां क्रौंचवर, गुनतीसवां क्रौंचवरावभास द्वीप है.

यह समस्त द्वीप एक एक समुद्र से वेष्टित हैं, उन समुद्रों के नाम कहते हैं:-

पढमे लवणो जलहि ॥ वीए कालोय पुक्ख-राईसु ॥ दीवेसु हुंति जलही ॥ दीव समाणेहिं नामेहिं ॥ ७० ॥

भावार्थः—पहले द्वीप के चारों ओर लवण नामक समुद्र है, दूसरे द्वीप से कालोदधि नामा समुद्र है, वहां से आगे पुष्कर-वरादिक समुद्र के नाम द्वीप के नाम समान होते हैं, जैसा कि वारुणीवर द्वीप के बाद वारुणीवर समुद्र इस भांति सर्व द्वीप समान नाम के समुद्रों से वेष्टित है यानि द्वीप तथा उसका समुद्र दोनों एकही नामके हैं. और उनके जैसे २ नाम हैं वैसे ही उनके गुण भी हैं. यथा जम्बूवृक्ष होने से इस द्वीप का जम्बूद्वीप नाम है, लवण के सदृश खारा पानी होने से लवण समुद्र नाम है, धातकी (धावड़ी) वृक्षके कारण धातकी खंडका नाम है. इस प्रकार दूसरे भी द्वीप, समुद्र के अर्थ सहित नाम जानना। यहां द्वीप समुद्र के अधिपति जो व्यन्तर देव हैं उनकी आयु एक पल्योपम की होती है.

अब दूसरे द्वीप समुद्र के कैसे २ नाम हैं सो थोड़े में कहते हैं.

आभरण वत्थ गंधे ॥ उप्पल तिलए य पउम

निहि रयणे ॥ वासहर दह नईओ ॥ विजया वक्खार कप्पिंदा ॥ ७१ ॥ कुरु मंदर आवासा॥ कूडा नक्खत्त चंद सूराय ॥ अन्नेवि एव माई ॥ पसत्थ वत्थूण जे नामा ॥ ७२ ॥ तन्नामा दीवु-दही ॥ तिपडो यायार हुंति अरुणाई ॥ जंबू लवणा ईया ॥ पत्तेय ते असंखिज्जा ॥ ७३ ॥ ताणंतिम सूरवरा ॥ वभास जलही परंतु इक्किक्का ॥ देवे नागे जक्खे ॥ भूए सयंभुरमणेय ॥ ७४ ॥

भावार्थः—हार प्रमुख आभूषण के जितने नाम हैं उन नामों के द्वीप समुद्र हैं. वस्त्रों के जितने नाम हैं उन नामों के द्वीप समुद्र है. कूट प्रमुख के नाम के कुमुद चंद्रविकाशी कमल प्रमुख के नाम के, तिलक के नाम मोहत तिलक, कलशातिलकादि नाम के, अर्थात् तिलकादिक वृक्ष प्रमुख के नाम के पद्म शतपत्र पुंडरिकादिक सूर्य विकाशी कमल के नाम के, महापद्मादिक नवनिधि के नाम के कर्केतनादिक रत्न के नाम के अथवा चक्रवर्ती वासुदेव के रत्न के नाम के, वर्षधर यानि हिमवंतादिक पर्वत के नाम के, द्रह के नाम के, गंगा प्रमुख नदियों के नाम के, कच्छादिक विजय के नाम के, माल्यवंतादिक वक्षस्कार

(वक्खारा पर्वत) के नाम के, सौधर्मादिक देवलोक के नामके शक्रेन्द्रादि इन्द्रों के नाम के, देवकुरु उत्तरकुरु के नाम के, मेरु के नाम के, इन्द्रादिक के आवास के नाम के कूट पर्वत के नाम के, कृतिकादिक नक्षत्र के नाम के, चन्द्रमा सूर्य के जो नाम हैं उन नामों के इत्यादि प्रशस्त वस्तुओं के जो नाम इस जगत् में हैं उन नामों के द्वीप समुद्र हैं. और पूर्व कथित अरुण आदि त्रिप्रत्ययावतार हैं अर्थात् अरुण से लेकर क्रौंच पर्यंत तीन २ नाम से त्रिप्रत्ययावतार हैं इसी प्रकार दूसरे आभरणादिक नाम के द्वीप समुद्र में भी समझलेना चाहिये. जैसे कि:—हारद्वीप, हार समुद्र, हारवर द्वीप, हारवर समुद्र, हारवरावभास द्वीप, हारवरावभास समुद्र इस प्रकार नाम कहना. इस भांति त्रिप्रत्ययावतार वहां तक करना चाहिये कि जहां तक देवद्वीप से पहिला सूर्यवरावभास द्वीप, सूर्यवरावभास समुद्र और जंबूद्वीप नामक असंख्याता द्वीप व लवण समुद्र नामक असंख्याते समुद्र हैं. उनमें अंतिम सूर्यवरावभास समुद्र है वहां तक त्रिप्रत्ययावतार करना चाहिये. इसके बाद फिर सर्व तिर्छेलोक के अंत में देवादिक पांच द्वीप और इन्हीं नाम के पांच समुद्र हैं वे एक एक ही नाम के हैं, अतः इनका त्रिप्रत्ययावतार नहीं होता है. और इस नाम के द्वीप समुद्र असंख्यात भी नहीं हैं. किंतु यह पांच नाम द्वीप समुद्र के एक एकही हैं अर्थात् इन नाम

के और कोई द्वीप समुद्र नहीं हैं. उन पांचों के नाम कहते हैं १ देवद्वीप व देव समुद्र. २ नागद्वीप व नाग समुद्र, ३ जक्षद्वीप व जक्षसमुद्र. ४ भूतद्वीप व भूतसमुद्र, ५ स्वयंभूरमण द्वीप व स्वयम्भूरमण समुद्र यह पांचों द्वीप के नाम कहे. जिस प्रकार जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष हैं, सर्व रत्नमय जगती का आठ योजन उंचा कोट है. उसके विजय, विजयंत, जयंत और अपराजित नामक चार दरवाजे व दरवाजों के देव हैं उसही प्रकार दूसरे जो जम्बू नाम के असंख्याते द्वीप हैं और लवण नाम के असंख्याते समुद्र हैं वहां सर्वत्र यही स्थिति समझना. उस जम्बूद्वीप में इस जम्बूद्वीप के अणाढीया देव की राजधानी है. इसही प्रकार अन्य द्वीप समुद्र आश्रयी भी समझ लेना.

अब समस्त समुद्रों के प्राणी और मत्स्यों का विशेष स्वरूप कहते हैं.

वारुणिवर खीरवरो ॥ घयवर लवणोय हुंति भिन्नरसा ॥ कालोय पुक्खरो दहि ॥ सयंभुरमणोय उदगरसा ॥ ७५ ॥ इक्खुरस सेस जलही ॥ लवणे कालोय चरिम वहुमच्छा ॥ पण सग दस जोयण सय ॥ तणु कमा थोव सेसेसु ॥ ७६ ॥

भावार्थः—वारुणीवर समुद्रका जल मदिरा समान, खीरस-

मुद्र का जल तीन भाग गौदुध व चौथा भाग मिसरी इसभांति मिसरी मिश्रित दूध समान, घृतवर समुद्रका जल गायके घृतसे भी अधिक सुस्वादिष्ट और चौथा लवण समुद्र का जल लूणके सदृश। इस भांति यह चारों समुद्र के जल भिन्न भिन्न स्वाद के होते हैं यानि जैसा नाम है वैसाही पाणी का स्वाद भी है.

एक कालोदधि, दूसरा पुष्करवर, तीसरा स्वयंभुरमण इन तीन समुद्रका जल स्वाभाविक उदकरस (वर्षाद के जल) समान स्वादिष्ट है शेष नंदीश्वर आदि समुद्रसे भूत समुद्र पर्यंत सर्व समुद्रों के जल ईख, गन्ना के रस समान स्वादिष्ट होते हैं.

लवण, कालोदधि और अखीरी स्वयंभुरमण इन तीन समुद्रों में अनेक प्रकार के मच्छ कच्छपादिक हैं। उन मच्छों की उत्कृष्ट अवगाहना (देहमान) अनुक्रम से पांचसो योजन, सातसो योजन व एकहजार योजन की है यानि लवणमें उत्कृष्ट ५०० योजन के शरीर वाले मच्छ हैं, कालोदधि में उत्कृष्ट ७०० योजन के देहवाले मच्छ है और स्वयंभुरण में एकहजार योजन के शरीर वाले मच्छ हैं। (यह योजन उत्सेधांगुल के मानसे समझना) शेष जो समुद्र हैं उनमें थोड़े व छोटे मच्छ होते हैं। लवण समुद्र में जलचर जीवों की जाति सातकुल कोडी हैं, कालोदधि में नव कुल कोडी जाति और स्वयंभूरमण १२॥

कुल कोडी जाति हैं। इसका विशेष विवेचन श्री जीवाभिगम उपांग में है। इति द्वीप समुद्रका अधिकार सम्पूर्ण।

अब प्रति द्वीपमें व प्रति समुद्र मे चंद्रमा सूर्य की सख्या कहते हैं.

दो ससि दो रवि पढमे ॥ दुगुणा लवणंमि धायई संडे ॥ वारस ससि वारस रवि ॥ तप्पभिइ निदिट्ठ ससिरविणो ॥ ७७ ॥ तिगुणा पुविल्ल जुया ॥ अणंनरा णंतरंमिखित्तंमि ॥ कालोए वायाला ॥ विसत्तरी पुक्खरद्धंमि ॥ ७८ ॥

भावार्थः—प्रथम जम्बूद्वीप में दो चंद्रमा व दो सूर्य हैं, लवण समुद्र में इससे दुगुने यानि चार चंद्रमा व चार सूर्य हैं, धातकी खंडमें वारह चंद्रमा वारह सूर्य हैं अब इस धातकी खंड प्रमुख में चंद्र सूर्य की जो संख्या है उसे त्रिगुणा करना और पूर्व के सूर्य चंद्रकी संख्या उसमें मिलाने से उत्तरोत्तर द्वीप समुद्रों के चंद्र सूर्यकी संख्या विदित हो जायगी जैसे किः—धातकी खंडमें वारह चंद्रमा वारह सूर्य हैं अव उन वारह को तिगुणा करने से ३६ हुआ और ३६ में जम्बूद्वीप के २ तथा लवण के ४ ६ चंद्र सूर्य वढाये तो कुल मिलकर ४२ चंद्रमा और ४२ सूर्य कालोदधि समुद्र में हैं। इसी प्रकार आगे के द्वीप समुद्रों

में भी चंद्र सूर्य की संख्या निकाल सकते हैं जैसे कि पूर्वोक्त ४२ को त्रिगुणा करने से १२६ हुवे फिर उसमें धातकी खंडके १२ लवणसमुद्रके ४ और जम्बुद्वीप के २ मिलकर कुल १८ मिलाये सब मिलकर १४४ हुए. इस भांति १४४ चंद्रमा व १४४ सूर्य पुष्करवर द्वीपमें हैं परन्तु पुष्कर वर द्वीपका अर्धभाग मनुष्य क्षेत्रमें है इसलिये ७२ चंद्रमा व ७२ सूर्य यहां मनुष्य क्षेत्र की गिनती में लेने चाहियें और इसी कारण उपर लिखित पाठमें " विसंत्तरी पुरकरद्धंमि " अर्थात् पुष्करार्द्ध में ७२ ऐसा कहा है। मनुष्य क्षेत्रसे वाहिर जो अर्द्धपुष्कर है वहां के चंद्र सूर्य स्थिर हैं और समश्रेणी में भी नहीं हैं इसवास्ते उन्हें गिनती में नहीं लिये हैं।

अब मनुष्य लोक मे चन्द्रमा सूर्य की पंक्ति संख्या कहते हैं:-

दो ससि दो रवि पंती, एगंतरिया छसट्ठि संखाया।
मेरुं पयाहिणंता, माणुस खित्ते परिअडंति ॥ ७९ ॥

भावार्थः--दो चन्द्रमा व दो सूर्य की श्रेणी एक एक के अन्तर में है. सूर्य की पंक्ति के अंतर में चन्द्रमा की व चन्द्रमा की पंक्ति के अन्तर में सूर्य की इस भांति कुल चार पंक्तिं हैं. एक २ चन्द्र पंक्ति मे ६६ चन्द्रमा हैं और एक २ सूर्य पंक्ति में ६६ सूर्य हैं यह चारों पंक्ति जम्बूद्वीप के मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा

देते हुए मनुष्य क्षेत्र में परिभ्रमण करते हैं यानि जम्बूद्वीप के मेरू से एक सूर्य दक्षिण दिशा में विचरे जब दूसरा उत्तर दिशा में विचरे इसी प्रकार लवण समुद्र में एक २ दिशा में दो २ सूर्य विचरे. धातकी खण्ड में ६, कालोदधि में २१ और पुष्करार्द्ध में ३६ यों सब मिलकर ६६ दक्षिणदिशि में व ६६ उत्तरदिशि में विचरते हैं. ये दोनों समश्रेणी सूर्य की मिलने से १३२ सूर्य और ६६+६६ चन्द्रमा की दो पंक्ति मिलने से १३२ चन्द्र मनुष्य लोक में भ्रमण करते हैं.

अब ग्रह की पंक्ति मनुष्य क्षेत्र मे कहते हैः—

एवं गहाइणोविहु॥ नवरं धुव पासवत्तिणो तारा॥
तंचिय पयाहिणंता॥ तत्थे वसया परिभमंति॥८०॥

भावार्थः—पूर्वोक्त सूर्य चन्द्र की पंक्ति की भांति ग्रह और नक्षत्र की पंक्ति भी जानना. सो इस प्रकार है कि एक २ चद्रमा के पीछे अठासी ग्रह और २८ नक्षत्र की एक पांक्ति है ऐसी छासठ२ की दो पंक्ति मिलकर १३२ पंक्ति के साथ अठासी २ ग्रह और २८, २८, नक्षत्रों की जानना. वे सब मेरू की चारों ओर परिभ्रमण करते हैं. मगर इतना विशेष कि श्री ठाणांग सूत्र में जम्बूद्वीप के चारों दिशि में चार ध्रुव तारे बतलाये हैं इन ध्रुव तारों के पार्श्ववर्ति जो तारे हैं यानि ध्रुवतारे के निकट

जो दूसरे जो सप्तऋषि आदिक तारे हैं वे ध्रुव तारे को ही प्रदक्षिणा देते फिरते हैं वहां ही वे परिभ्रमण करते हैं।

अब जम्बूद्वीप में चन्द्र सूर्य के मंडल की वक्तव्यता करते हैं।

पन्नरस्स चूलसीइसयं ॥ इहससि रविमंडलाइं तक्खित्तं ॥ जोयण पण सय दसहिय ॥ भागा अडयाल इगसट्ठा ॥ ८१ ॥

भावार्थः-मंडल याने एक सूर्य दक्षिण दिशि से चलकर उत्तरदिशि में आवै और दूसरा उत्तरदिशि से चलकर दक्षिण दिशि में आवे। एक अहोरात्रि में अर्द्ध मंडल क्षेत्र दक्षिण दिशिका सूर्य और अर्द्ध मंडल क्षेत्र उत्तरदिशि का सूर्य उल्लंघन करता है. दोनों अर्ध मिलकर मंडलाकार होता है इसलिये उसे मंडल कहते हैं. मंडल का क्षेत्र ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन है.

चन्द्रमा के १५ मंडल हैं और १८४ मंडल सूर्य के हैं। यह चंद्र सूर्य के मंडल का क्षेत्र जम्बूद्वीप में कितना है सो कहते हैंः-५१० योजन पर एक योजन का एक सट्ठीया ४८ भाग अधिक इतने क्षेत्र में सर्व मंडल हैं।

अब उसका गिनती से परिमाण करते हैंः-

तिसि इगसट्ठा ॥ इग इग सट्ठस्स सत्त भइयस्स ॥ पणतीसं च दु जोयण, ससि रविणो मंडलं तरयं ॥ ८२ ॥

भावार्थः—३५ योजन पर एक सठीया ४८ भाग तथा एक सठिया एक भाग का पुनः सात भाग करें उनमें से चार भाग अधिक इतना अन्तर चन्द्रमा के मंडलों के बीच में है. और दो योजन का अन्तर सूर्य के मंडलों के बीच में है.

गिनती उसकी इस प्रकार हैः—सूर्य के १८४ मंडलों १८३ आंतरे हैं और एक २ अंतर का परिमाण दो २ योजन है उसको १८३ गुणा करें जब ३६६ योजन आंतरों का हुआ. फिर सूर्य के एक २ मंडल की चौडाई $\frac{४८}{६१}$ योजन की है उसको १८४ गुणा करने से १४४ योजन पर $\frac{४८}{६१}$ योजन हुए उन्हको पूर्वोक्त ३६६ योजन में मिलायें तब सब मिलकर ५१० योजन पर $\frac{४८}{६१}$ योजन हुये इतना क्षेत्र जम्बूद्वीप के सूर्य को विचरने का है ।

अब चन्द्रमा के १५ मण्डल हैं प्रत्येक मण्डल की चौड़ाई योजन का एक सठीया ५६ भाग की है उसे १५ गुणा करने से १३ योजन पर एक सठीया ४७ भाग अधिक होते हैं फिर

१५ मंडल के जो १४ आंतरे हैं वह प्रत्येक अंतर ३५ योजन और एक योजन का एक सठीया ३० भाग तथा एक सठीया एक भाग के सात भाग करें ऐसे ४ भाग का है (यानि दो चन्द्र मण्डल के बीच इतना अन्तर है) इसलिये उसको १४ गुणा किया जब ४९७ योजन पर एक सठीया एक भाग होता है उसमें उपरोक्त पंद्रह मंडलों के चौड़ाई के १३ $\frac{४७}{६१}$ योजन मिलायें जब सब मिलकर ५१० $\frac{४८}{६१}$ योजन हुए. इतना क्षेत्र जम्बूद्वीप के चन्द्रमा को विचरने का है.

अब इन चन्द्र सूर्य के कितने मण्डल जम्बूद्वीप में तथा कितने लवण समुद्र में है सो कहते है:—

मंडल दसगं लवणे ॥ पणगं निसढंमि होइ चंदस्स ॥ मंडल अंतर माणं ॥ जाण पमाणं पुरा कहियं ॥ ८३ ॥ पणसठ्ठी निसढंमिय ॥ दुन्निय बाहा दुजोयणं तरिया ॥ ईगुणवीसंतु सयं ॥ सूरस्सय मंडला लवणे ॥ ८४ ॥

भावार्थः—चन्द्रमा के दश मंडल लवण समुद्र में हैं और पांच मण्डल जम्बूद्वीप में निषध पर्वत पर हैं उसके अन्तर का

प्रमाण उपर कह आये हैं उस प्रकार जानना. सूर्य के ६५ मण्डल निषध पर्वत पर है और उनमें से दो मण्डल निषध पर्वत के बाहिर हरिवर्ष क्षेत्र की जिह्वा के अग्रभाग में है इस भांति जम्बूद्वीप के भीतर सूर्य के ६५ मण्डल तथा लवण समुद्र में सूर्य के ११९ मंडल हैं सब मिलकर १८४ मंडल हुये मण्डल मण्डल के बीच में दो दो योजन का अन्तर है.

अब जम्बूद्वीप मे चंद्रमा सूर्य के चार क्षेत्र कितने योजन हैं तथा लवण समुद्र में कितने योजन हैं सो कहते हैं:—

ससि रविणो लवणंमिअ ॥ जोयण सय तिन्नि तीस अहिआइं ॥ असियं तु जोयण सयं ॥ जंबु-द्दीवंमि पविसंति ॥ ८५ ॥

भावार्थः—लवण समुद्र में चन्द्रमा सूर्य का चार (विचरने का) क्षेत्र ३३० योजन का है और जम्बूद्वीप में १८० योजन पर एक सठीया अडतालीस भाग अधिक का चार क्षेत्र है सब मिलकर ५१० योजन पर एक सठीया ४८ भाग अधिक इतना चंद्र सूर्य का चार क्षेत्र है. चन्द्र सूर्य जम्बूद्वीप में से निकल कर लवण समुद्र में ३३० योजन तक जाते हैं पुनः वापिस लौटकर १८० योजन जम्बूद्वीप में प्रवेश करते हैं

(व्यवहार में सूर्य के इस प्रकार गमनागमन होने को उत्तरायन व दक्षिणायन कहते हैं)

नक्षत्र और तारों का एकही मण्डल है जो नक्षत्र जिस मंडल में चार करता है वह नक्षत्र सदैव वही मंडल में फिरता है मगर उनके दक्षिणायन उत्तरायन होवे नहीं.

अब द्वीप और समुद्र मे ग्रह नक्षत्र और तारों की संख्या जानने के वास्ते उपाय बतलाते हैं:-

गह रिक्ख तार संखं॥ जत्थेच्छसि नाउ मुदहि दीवेवा ॥ तसस्सासिहि एग ससिणो ॥ गुणसंखं होइ सव्वगं ॥ ८६ ॥

भावार्थः-जिस द्वीप या समुद्र के ग्रह, नक्षत्र और तारों की संख्या जानने की इच्छा होवे उस द्वीप या समुद्र में कितने चन्द्रमा है उसका पहिले हिसाब निकालना फिर उसके साथ आगे जो एक चंद्र का परिवार कहा है उनसे गुणा कर लेना जिससे ग्रह, नक्षत्र और तारों की संख्या विदित हो जायगी.

अब वैमानिक की बात कहते हैं जिसमे प्रथम उनके विमान कहते हैं:-

बत्तीस हावीसा ॥ वारस अउ चउ विमाण ल-
क्खाइं ॥ पन्नास चत्त छ सहस्स ॥ कमणे सोहमा-
ईसु ॥८७॥ दुसुसय चउदुसुसयतिग मिगारसहियं
सय तिगेहिट्ठा ॥ मज्जे सत्तुत्तर सय ॥ मुवरितिगे
सयमुवरि पंच ॥ ८८ ॥

भावार्थः—सौधर्म में ३२ लाख, ईशान में २८ लाख, सन-
त्कुमार में १२ लाख, माहेंद्र में ८ लाख, ब्रह्मदेवलोक में ४ लाख,
लांतक में ५० हजार, शुक्र में ४० हजार, सहस्सार में ६ हजार,
आणत प्राणत इन दोनों में ४०० विमान, आरण तथा अच्युत इन
दोनों के मिलकर ३०० विमान जानना. नीचे के तीन ग्रैवेयक में
१११ विमान, मध्य के तीन ग्रैवेयक में १०७ विमान और ऊपर
के तीन ग्रैवेयक में सौ विमान हैं. इसके ऊपर पांच अनुत्तर
विमान के पांच विमान है.

पूर्वोक्त विमानों की कुल संख्या और विमानादिक का
स्वरूप कहते हैं:—

चुलसीइ लक्ख सत्ताणवइ ॥ सहस्सा विमाण
तेवीसं ॥ सव्वस्स मुढ्ढ लोगंमि ॥ इंदपा विसद्दिढ
पयरे सु ॥ ८९ ॥

भावार्थ—८४९७०२३ (८४ लाख ९७ हजार और २३ इतने उर्ध्वलोक में वैमानिक देवों के विमान हैं। और उर्ध्व-लोक में जो ६२ प्रतर हैं, उनके मध्य भाग में एक २ इन्द्रक विमान है। बासठ प्रतर के मिलकर बासठ इन्द्रक विमान हैं.

चउदिसि चउपंतीओ ॥ वासट्ठि विमाणिया पढमें पयरे ॥ उवरि इक्किक हीणा ॥ अणुत्तरे जाव इक्किकं ॥ ६० ॥

भावार्थः—उपरोक्त ६२ इन्द्रक विमान में से प्रथम उडु नामक विमान से चारों दिशि में बासठ बासठ विमान की चार श्रेणी (पंक्ति) हैं, दूसरे प्रतर के दूसरे इन्द्रक नामक विमान से चारों दिशि में एकसठ २ विमान की चार पंक्ति हैं, इस भांति उपर के एक २ प्रतर में उत्तरोत्तर एक २ विमान कम करते जाइये यावत् सर्वार्थसिद्ध में बासठवें प्रतर में एक २ विमान की चार पंक्ति हैं यानि उसके चार दिशा में ४ विमान हैं.

इंदय वट्टा पंतिसु ॥ तो कमसो तंस चउरंसा वट्टा ॥ विविहा पुप्फवकिन्ना ॥ तयंतरे मुत्तं पुव्व दिसिं ॥ ६१ ॥

भावार्थः—इस पंक्ति में जो इन्द्रक विमान है वह गोलाकार है और सर्व के मध्य में है, उसके बाद क्रमशः श्रेणी में त्रिकोण विमान है, उसके बाद चतुष्कोण विमान है इसके बाद फिर गोल विमान है। इस प्रकार अनुक्रम से पंक्तिगत विमानों के आकार हैं. और पुष्पावकिर्ण विमान नंदावर्त स्वास्तिक आदि विविधप्रकार के आकार के हैं ये विमान पूर्वोक्त चार पंक्ति के अनन्तर के बीच में हैं पूर्वदिशि के सिवाय शेष तीन दिशि में ऐसे पुष्पावकर्ण विमान हैं। जिस प्रकार रायण (खिरणी) के पुष्प छूटे बिखरे हुए होते हैं उसी प्रकार ये पुष्पावकिर्ण विमान भी पंक्तिबंध नहीं हैं मगर बिखरे हुए हैं।

अब पहिले प्रतर की एक एक पंक्ति के बासठ २ विमान चारों दिशि में कौन २ स्थानक में हैं सो कहते हैं.

एगं देवे दीवे ॥ दुवेय नागोदहीसु वोधव्व ॥
चत्तारि जक्खदीवे ॥ भूय समुद्देसू अट्ठेव ॥ ६२॥
सोलसं सयंभुरमणे ॥ दीवेसु पइट्ठियाय सुरभवणा ॥ इगतीसंच विमाणा ॥ सयंभुरमणे समुद्देय ॥ ६३ ॥

भावार्थः—प्रथम प्रतर का प्रथम पंक्ति विमान देवद्वीप में है,

दो विमान नाग समुद्र में है, तथा चार विमान जंवूद्वीप में है, आठ विमान भूत समुद्र में है और सोलह विमान स्वयं-भुरमण नामक द्वीप में रहे हुये हैं वहां देवों के भुवन हैं तथा ३१ विमान स्वयम्भुरमण समुद्र में है, सब मिलकर एक एक पंक्ति में के ६२ विमान होते हैं. इसी प्रकार चारों दिशा में जानना.

अब चारों दिशि मे दूसरे प्रतर में ६१ विमानो की समश्रेणी किस प्रकार है सो कहते हैं:-

बट्टं वट्टे स्सुवरिं ॥ तंसं तंसस्स उवरिमं होइ ॥
चउरंसे चउरंसं ॥ उद्ढंतु विमाण सेढीए ॥६४॥

भावार्थः-गोलाकार विमान पर गोलाकार विमान है और त्रिकोण विमान के ऊपर त्रिकोण विमान है तथा चोखूण के ऊपर चोखूण विमान है. इस भांति ऊपरा ऊपरी ऊर्ध्वलोक में विमान की श्रेणी है. इसके छेडे से (आखिरी विमान से) एक एक कमती करते जाइये यावत् बासठवें प्रतर के सर्वार्थ सिद्ध नामक इंद्रक विमान से चारों दिशि में एक एक त्रिकोणाकार विमान देवद्वीप ऊपर है. सर्व प्रतर में चारों पंक्ति के मध्य भाग में गोलाकार इंद्रक विमान है वहां से चारों दिशि की विमान की पंक्ति में अनुक्रम से त्रिकोणाकार चार विमान, तत्पश्चात्

चतुष्कोणाकृति चार विमान, बाद में गोलाकार चारों दिशि के चार विमान, पुनः त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल इस भांति जब तक श्रेणी पूरी होवे वहां तक क्रमशः समझ लेना.

सव्वे वट्ट विमाणा ॥ एग दुवारा हवंति नायव्वा ॥ तिण्णिय तंस विमाणे ॥ चत्तारिय हुंति चउरंसे ॥ ६५ ॥

भावार्थः—सर्व गोलाकार विमान में एक एक द्वार होता है और त्रिकोण विमान में तीन तीन दरवज्जे होते हैं तथा चतुष्कोण विमान में चार चार दरवज्जे होते है.

पागार परिक्खित्ता ॥ वट्ट विमाणा हवंति सव्वेवि ॥ चउरंस विमाणाणं ॥ चउद्दिसिं वेइया होइ ॥ ६६ ॥

भावार्थः—सर्व गोल विमानों प्राकार (गढ) से वेष्टित हैं और जो चतुष्कोण विमान है उनके चारों ओर वेदिका होती है (विना कांगरे का जो गढ होता है उसे वेदिका कहते है.)

जत्तो वट्ट विमाणा ॥ तत्तो तंसस्स वेइया होइ ॥ पागारो वोधव्वो ॥ अवसेसेहिं तु पासेसु ॥६७॥

भावार्थ.–जिस दिशिमें गोलाकार विमान है उस दिशिमें त्रिकोण विमान को वेदिका होती है और शेष बाजुमें प्रकार यानि गढ होता है ।

आवलिय विमाणाणं ॥ अंतर नियमसो असंखिज्जं संखिज्जमसंखिज्जं ॥ भणियं पुप्फाव किन्नाणं ॥ ६८ ॥

भावार्थः–आवलिका (पंक्ति) गत वासठ विमान हैं उनमें परस्पर एक दूसरे से निश्चय पूर्वक असंख्याता योजनका अंतर है. तथा पुष्पावकिर्ण विमानों में संख्याता योजन का तथा असंख्याता योजनका अतर कहा है अर्थात् एक पूर्वदिशि को छोडकर शेष तीन दिशी में जो पुष्पावकिर्ण विमानों हैं उनमें से कइयों का परस्पर अंतर संख्याता योजन का है और कित्तेक विमानों का अंतर असंख्याता योजन का है ।

अच्चंत सुरहि गंधा ॥ फासे नवणीय मउय सुहफासा ॥ निच्चुज्जोया रमा ॥ सयंपहा ते विरायंति ॥ ६६ ॥

भावार्थः–उपरोक्त विमान अत्यंत सुरभिगंध मय हैं, तथा उनका स्पर्श मक्खन के सदृश मृदु यानि सुकुमाल है तथा सुह-

फासा यानि सुखकारी स्पर्श है। वे विमान सदैव उद्योतवंत तथा रम्य-मनोहर है. और अपनी ही प्रभा से विराजमान है।

जे दक्खिणेण इंदा ॥ दाहिणओ आवली मुणेयव्वा ॥ जे पुण उत्तर इंदा ॥ उत्तरओ आवली मुणे तेसिं ॥ १०० ॥

भावार्थः-दक्षिण दिशिकी श्रेणी के जो विमान हैं वे दक्षिण दिशि के सौधर्मेंद्र तथा सनत्कुमारेंद्र के हैं और उत्तर दिशिके विमान की श्रेणी ईशानेंद्र तथा माहेंद्रकी है.

पुव्वेण पच्छिमेणय ॥ सामणा आवली मुणेयव्वा ॥ जे पुण वट्ट विमाणा ॥ मज्झिल्ला दाहिणल्लाणं ॥ १०१ ॥

भावार्थः-पूर्व और पश्चिम दिशिके विमान की श्रेणी, सौधर्म तथा ईशान इन दो देवलोक मे सामान्य हैं और जो गोलाकार विमान मध्यभाग में हैं सो दक्षिण दिशिके सौधर्मेंद्रके जानना.

पुव्वेण पच्छिमेणय जे वट्टा तेवि दाहिणिल्लस्स॥ तंसं चउरंसगा पुण॥ सामणा हुंति दुण्हंपि१०२

भावार्थः-पूर्व और पश्चिम दिशि के विमान की श्रेणी में जितने गौलाकार विमान हैं वे भी दक्षिण दिशिके सौधर्मेंद्र के हैं और जो त्रिकोण तथा चतुष्कोण विमान हैं वे सामन्य याने दोनों इन्द्र के हैं.

अब प्रति देवलोक मे श्रेणीके विमान की संख्या जानने का उपाय बतलाते हैं।

पढमं तिम पयरावलि ॥ विमाण मुंह भूमि तस्समासद्धं ॥ पयर गुण मिट्ट कप्पे ॥ सव्वग्गं पुप्फकन्नियरे ॥ १०३ ॥

भावार्थः—सौधर्म और ईशानादि देवलोक में जो प्रथम प्रतरकी पंक्ति की विमान संख्या है उसे " मुख " कहते हैं, और अंतिम (आखरी) प्रतर की पंक्ति की विमान संख्या को " भूमि " कहते हैं। उस मुख और भूमि के विमानों को एकत्र करने से जो अंक उपलब्ध होता हैं उसको समास कहते हैं। उस समास का अर्द्ध करके उसको इच्छित देवलोक के प्रतरके साथ गुणा करना चाहिये ऐसा करने से जो अंक उपलब्ध होवे उतनी उस देवलोक में पंक्तिगत विमानों की सर्व संख्या जानना।

उदाहरण- जैसे सौधर्म और ईशान इन दो देवलोक में मुख २४६ विमान और भूमि २०१ विमान। इन दोनों को

एकत्र करने से ४५० हुआ। उसका अर्द्ध करने से २२५ हुवा उसको इन दो देवलोक की प्रतर संख्या (१३) के साथ गुणा किया जब २९२५ हुआ। इतनी संख्या सौधर्म ईशान देवलोक के श्रेणीगत विमानों की जानना।

अब उन दोनों देवलोक के सब मिलकर ६० लाख विमान है उनमें से २९२५ बाद करें तो शेष ५९९७०७५ रहें इतने पुष्पावकिर्ण विमान है। इसी प्रकार ऊपर के देवलोक में भी समझ लेना।

अब कौनसे देवलोक में, कौन प्रतर में किसी पंक्ति में कितने त्रिकोण विमान, कितने चतुष्कोण विमान और कितने गोल विमान हैं उनकी संख्या जानने का उपाय कहते हैं।

इगदिसि पंति विमाणा। तिविभत्ता तंस चउरंसा वट्टा। तंसेसु सेस मेगं ॥ खिवसेस दुगस्स इक्किक्कं ॥ १०४ ॥ तंसेसु चउरंसेसुय तो रासि तिगंपि चउगुणं काउ। वट्टेसु इंदयं खिव ॥ पयर धणं मीलियं कप्पे ॥ १०५ ॥

भावार्थः—इच्छित देवलोक में इच्छित प्रतर की एक दिशि की पंक्ति में जितने विमान होवे उनको तीन हिस्से में बांटना

इससे अनुक्रम से त्रिकोण, चतुष्कोण और गोल ऐसे तीन विभाग होंगे. इस भांति तीन का भाग देने से शेष जो एक बचे तो उसको त्रिकोण में मिला दीजिये, दो बचे तो एक त्रिकोण में व एक चतुष्कोण में मिलाइये. इस भांति एक दिशि में त्रिकोण, चतुष्कोण तथा गोलाकार विमान की संख्या हुई.

उदाहरण—सौधर्म तथा ईशान देवलोक के प्रथम प्रतर में प्रत्येक दिशि में ६२ विमान हैं. उनको तीन भाग में विभक्त करने से एक २ भाग वीस वीस हुए और शेष दो बचे उनमें से एक त्रिकोण में व एक चतुष्कोण में मिलाइये तब २१ त्रिकोण, २१ चतुष्कोण और २० गोलाकार विमान हुए. तत्पश्चात् वे इन ३ राशी के ६२ विमान को चौगुणा करके गोलाकार विमान में एक इन्द्रक विमान मिलाइये तब प्रथम प्रतर के चारों पंक्ति के मिलकर ८४ त्रिकोण, ८४ चतुष्कोण तथा ८१ गोलाकार विमान सब मिलकर २४९ विमान हुए.

वैसे ही दूसरे प्रतर में उपरोक्त गिनती अनुसार ८४ त्रिकोण, ८० चतुष्कोण तथा ८१ गोलाकार सब मिलकर २४५ इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना.

अब सौधर्म ईशान देवलोक की विमान संख्या कहते हैं.

सत्तसय सत्तवीसा, चत्तारि सयाय हुंति चउणउया।

चत्तारिय छासीया । सोहम्मे हुंति वट्टाइ ॥१०६॥

भावार्थः—सौधर्म देवलोक में ७२७ गोलाकार विमान हैं, ४६४ त्रिकोण विमान हैं, तथा ४८६ चौखूण विमान हैं सब मिलकर १७०७ विमान पंक्ति बद्ध (श्रेणीगत) हैं तथा ३१९८२९३ पुष्पावकिर्ण विमान हैं सब मिलकर बत्तीस लाख विमान हुए।

एमेवय ईसाणे ॥ नवरं वट्टाण होइ नाणत्तं ॥
दोसय अट्ठत्तीसा ॥ सेसा जह चेव सोहम्मे ॥१०७॥

भावार्थः—ईशान देवलोक में इतना विशेष कि जो गोलाकार विमान २३८ है। शेष सौधर्म दे० के सदृश है। यानि ४६४ त्रिकोण तथा ४८६ चतुष्कोण विमान है सब मिलकर १२१८ पंक्तिगत विमान तथा २७९८७८२ पुष्पावकिर्ण विमान है सब मिलकर २८ लाख विमान ईशान देवलोक में हैं.

अब कृष्णराजी का वर्णन करते हैं

पुव्वापरा छलंसा । तंसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा ।
अब्भिंतर चउरंसा । सव्वाविय कण्हराइओ ।१०८।

भावार्थः—पांचवें देवलोक में अरिष्ट नामक तीसरे प्रतर के

चारों कोणे में दो २ कृष्णराजी हैं. तमस्काय (अंधकार के समूह) से विष्टित होने से उन्हें कृष्णराजी कहते हैं । इस जंबूद्वीप से तिर्छा लोक में असंख्याता द्वीप समुद्र उल्लंघन करने के बाद जो अरुणवर नामक द्वीप आता है उस द्वीप की वेदिका के छेड़े से अरुणवर समुद्र में बेंतालीस हजार योजन दूर समुद्र के उपर के तलसे अपकायमय यह तमस्काय निकली है. सो ११०० योजन तक भीत समान होकर फिर तिर्छी फैली हुई है सौधर्मादि चार देवलोक को अपने उदर में लेकर पांचवां ब्रह्मलोक के तीसरे प्रतर तक पहुंची हुई है. पूर्व और पश्चिम दिशि की बाहिरली कृष्णराजी के छः खूणे हैं और दक्षिण व उत्तर दिशि की बाहिरली कृष्णराजी त्रिकोण है तथा भीतर की चारों कृष्णराजी चतुष्कोण हैं.

अब देश वैमानिक इन्द्रों के सामानिक तथा आत्मरक्षक देव कहते हैं.

चुलसी असिइ बावत्तरि ॥ सत्तरि सट्ठीय पन्नचत्ताला ॥ तुल्ल सुर तीस वीसा ॥ दससहस्स आय रक्ख चउगुणिया ॥ १०६ ॥

भावार्थः—सौधर्मेंद्र के ८४ हजार सामानिक, ईशानेंद्र के ८० हजार, सनत्कुमारेन्द्र के ७२ हजार माहेन्द्र के ७० हजार

ब्रह्मेन्द्र के ६० हजार, लांतकेन्द्र के ५० हजार, महाशक्रेन्द्र के ४० हजार, सहस्सरेंद्र के ३० हजार, आणत प्राणतेंद्र के २० आरण अच्युतेंद्र के १० हजार सामानिक देव हैं और इन से चार गुणे आत्मरक्षक देव प्रत्येक इंद्र को होते हैं.

अब बारह देवलोक के देवों के चिन्ह कहते हैं.

कप्पेसुय मिय महिसो ॥ वराह सीहाय छगल सालूरा ॥ हय गय भुयंग खग्गी ॥ वसहा विडिमाइं चिंधाइं ॥ ११० ॥

भावार्थः—सौधर्म देवलोक में मृग का चिन्ह, इशान में भैंसा का चिह्न, सनत्कुमार में सुअर का चिन्ह, माहेंद्र में सिंह का चिह्न, ब्रह्मदेवलोक में बकरा का चिह्न, लांतक में डेडका का चिह्न, शुक्र में घोडे का चिह्न, सहस्सार में हाथी का चिह्न, आणत में सर्प का चिन्ह, प्राणत में गेंडे का चिन्ह, आरण में वृषभ का चिन्ह, अच्युत में विडि में (मृग विशे जाति) का चिन्ह ये सब चिन्ह मुकुट में होते हैं.

अब विमान किस के आधार पर रहे हैं सो कहते हैं.

दुसु तिसु तिसु कप्पेसु ॥ घणुदहि घणवाय

तदुभयं च कमा ॥ सुरभवण पइट्ठाणं ॥ आगास पइट्ठिया उवरिं ॥ १११ ॥

भावार्थः--सौधर्म तथा ईशान ये दो देवलोक घनोदधि के आधार पर है, तीसरा, चौथा तथा पांचवां ये तीन देवलोक घनवात के आधार पर है. छट्ठा, सातवां व आठवां ये तीन देवलोक घनोदधि तथा घनवात इन दोनों के आधार पर है इनके उपर के देवलोक आकाश के आधार पर (अर्थात् बिना किसी आधार) है.

सत्तावीस सयाइं ॥ पुढवी पिंडो विमाण उच्चत्तं ॥ पंचसया कप्प दुगे ॥ पढमे तत्तोय इकिक्कं ॥ ११२ ॥ हायइ पुढवीसु सयं ॥ वड्ढई भवणेसु दु दु दु कप्पेसु चउगे नवगे पणगे ॥ तहेव जाणु-त्तरे सुभवे ॥ ११३ ॥ इगवीस सया पुढवी ॥ विमाण मिक्कार सेवय सयाई ॥ बत्तीस जोयण सया ॥ मिलिया सव्वत्थ नायव्वा ॥ ११४ ॥

भावार्थः–प्रथम दो देवलोक में २७०० योजन का पृथ्वी पिंड है, और विमान की उंचाई पांचसौ योजन की है. तीसरे

चोथे देवलोक में इससे एक सो योजन कम यानि २६०० योजन का पृथ्वी पिंड और १०० योजन अधिक यानि ६०० योजन विमान की उंचाई पांचवें छट्टे देवलोक में २५०० योजन पृथ्वी पिंड और ७०० योजन विमान की उंचाई सातवें आठवें देवलोक में २४०० योजन पृथ्वी पिण्ड और ८०० योजन विमान की उंचाई, नवम, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक में २३०० योजन पृथ्वी पिण्ड और ९०० योजन विमान की उंचाई, नव ग्रैवेयक में २२०० योजन पृथ्वी पिंड और १००० योजन विमान की उंचाई, पांच अनुत्तर विमान में २१०० योजन पृथ्वी पिंड और ११०० योजन विमान की उंचाई, सब जगह पृथ्वी पिंड के और विमान की उंचाई के योजन की जोड लगाने से कुल ३२०० योजन होते हैं.

पण चउ तिदुवएण विमाण ॥ सधय दुसु दु-
सुय जा सहस्सारो ॥ उवरि सिय भवण वंतर ॥
जोइ सियाणं विविह वएणा ॥ ११५ ॥

भावार्थः—सौधर्म तथा ईशान देवलोक में ध्वजा सहित पांचों वर्ण के विमान हैं, और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र में एक काला रंग छोड़ कर शेष चार वर्ण के विमान हैं, ब्रह्म तथा

लांतक देवलोक में काला तथा नीला वर्ण के अलावा शेष तीन वर्ण के विमान हैं, शुक्र तथा सहस्सार पीले तथा श्वेत वर्ण के विमान हैं. वहां से उपर आणतादिक चार देवलोक तथा नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान तक श्वेत वर्ण के विमान हैं. भुवनपति के भुवन, वाण व्यंतर के नगर तथा ज्योतिषी के विमान ये सब विविध वर्ण के होते है.

रविणो उदयत्थंतर ॥ चउणवइ सहस्स पणसय छवीसा ॥ वायाल सठिभागा ॥ कक्कड संकंति दियहंमि ॥ ११६ ॥ एयंमिपुणो गुणिए ॥ ति पंच सग नवय होइ कममाणं ॥ तिगुणंमिय दो लक्खा ॥ तेसीइ सहस्स पंचसया ॥ ११७ ॥ अ-सिई छसठि भागा ॥ जोयण चउलक्ख विसत्तरि सहस्सा ॥ छच्चसया तेत्तीसा ॥ तीस कलायंच गुणियंमि ॥ ११८ ॥ सत्त गुणे छ लक्खा ॥ इगसठि सहस्स छसय छासीया ॥ चउपन्न कला तह नव॥ गुणंमि अड लक्ख सढ्ढाओ॥११९॥ सत्त सया चत्ताला ॥ अठ्ठारस कलाय इय कमा

चउरो ॥ चंडा चवला जयणा ॥ वेगाय तहागई चउरो ॥ १२० ॥ ॥ इत्थय गइं चउत्थि ॥ जयण-यरिं नाम केइमन्नंति ॥ एहिं कमेहि मिमाहिं ॥ गइहिं चउरो सुरा कमसो ॥ १२१ ॥ विक्खंभ आयामं ॥ परिहिं अभिंतरंच बाहिरियं ॥ जुगवं मिणंति छम्मास ॥ जाव न तहावि तेपारं ॥ १२ ॥ पावंति विमाणाणं ॥ केसिंपिहु अ-हव तिगुणयाईए ॥ कम चउगे पत्तेयं ॥ चंडाइ गईउ जोइज्जा ॥ १२३ ॥ तिगुणेण कप्प चउगे पंच गुणेणंतु अट्ठ सुसुणिज्जा ॥ गेविज्जे सत्तगु-णेणं॥ नवगुणेणुत्तर चउके ॥ १२४ ॥

भावार्थः-सूर्य का उदय होकर अस्त होजाय इसकेबिच में ६४५२६ ६/२ योजन का अंतर कर्क संक्रांति के पहिले दिन में होता है उसे तापक्षेत्र कहते हैं. वैमानिक देवों के चलने की गति के योजनको पुनः तीनगुण, पांचगुण, सातगुण तथा नवगुण करने से जो आंक होवे सो क्रममान है यानि वैमानिक देवों एक कदम उठा

कर दूसरा कदम रक्खें उसको इतने योजन का प्रमाण है सो कहते हैं ।

सूर्य के तापक्षेत्र को त्रिगुणा करने से २८३५८० $\frac{६}{६०}$ योजन तथा पांच गुणा करने से ४७२६३३॥ योजन होवे तथा सात गुणा करने से ६६१६८६ $\frac{५४}{६०}$ योजन होवे तथा नव गुणा करने से ८५०७४० $\frac{१८}{६०}$ इस भांति क्षेत्रमान करके वैमानिक देवों की चार प्रकार की गति जानना. उस गति के नाम चंडा, चपला, जयणा और वेगा है. ये चारों गति एक एकसे शीघ्र-तर, शीघ्रतम जानना. यहां कोई आचार्य चोथी वेगवति नामा गति का यवनंतरी ऐसा नाम मानते हैं. ये पूर्वोक्त चारों गति से चार देवता अनुक्रम में इस प्रकार विमानों को नापे एक देवता त्रिगुणीक्रम (चंडागति से) विमान की चौड़ाई को नापे, दूसरा पंचगुणे क्रम से (चपला गति से) विमान की लंबाई को नापे, तीसरा देव सातगुणे क्रम से (यवनागति से) विमान की भीतरी परिधि का नाप, तथा चौथा देवता नवगुणे क्रम से (वेगवति गति से) विमान की बाहिर की परिधि को नापे. इस प्रकार समकाल में ये चारों देव अनुक्रम से छः मास तक निरंतर विमान को नापे तथापि कितनेक विमानों का पार पावे नहीं. और कितनेक का पार पावे. प्रथम चार देवलोक में चंडादिक गति से, पार पावे तथा उपर के आठ देवलोक में

पांचगुणे क्रम से पार पावे तथा सात गुणे क्रम से चंडादिक चारों-गति से नवग्रैवेयक के तथा चार अनुत्तर विमान का पार पावे.

पढम पयरंमि पढमे ॥ कप्पे उडु नाम इंदय विमाणं ॥ पणयाल लक्ख जोयण ॥ लक्खं सव्वुवरिसव्वट्ठं ॥ १२५ ॥

भावार्थ —प्रथम देवलोक के प्रथम प्रतर में उडु नामक इन्द्रक विमान है सो वृत्ताकार स्थाली समान ४५ लाख योजन प्रमाण तथा सर्वके ऊपर अखिरि बासठवें प्रतर में एक लाख योजन का सर्वार्थ सिद्ध नामक विमान गोलाकार है.

अब ६२ इन्द्रक विमान के नाम कहते हैं.

उडु चंद रयण वग्गु॥ वीरिय वरुणे तहेव आ-णंदे ॥ बंभ कंचण रुइभे ॥ चंद अरुणेय व-रुणेय ॥ १२६ ॥

भावार्थः— प्रथम उडु विमान, २ चंद्रक वि० ३ रत्न वि० ४ वल्गु वि० ५ वीर्य वि० ६ वरूण वि० ७ आनंद वि० ८ ब्रह्म वि० ९ कांचन वि० १० रुचिप्रभ वि ११ चंद्र वि० १२ अरुण १३ वरुण ये तेरह विमान सौधर्म ईशान देवलोक में हैं.

वेरूलिय रुयग रूइरे ॥ अंके फलिहे तहेव त-
वणिज्जे ॥ मेहे अग्घ हलिद्दे ॥ नलिणे तह लो-
हियक्खेय ॥ १२७ ॥

भावार्थः—१४ वैडुर्य, १५ रूचक १६ रूचिर, १७ अंक
१८ स्फाटिक, १६ तपनीय, २० मेघ, २१ अर्घ, २२ हालिद्र,
२३ नालिन, २४ लोहिताच.

वइरे अंजण वरमाल ॥ रिट्ठ देवेय सोम मं-
गलए ॥ वलभद्दे चक्क गया ॥ सोवत्थिय णंदि-
यावत्ते ॥ १२८ ॥

भावार्थः—२५ वज्र, (ये बारह तीसरे चोथे देवलोक में
है) २६ अंजन, २७ वरमाल, २८ रिष्ट, २६ देव, ३० सौम्य,
३१ मगल, (ये छः विमान ब्रह्म देवलोक में है) ३२ वलभद्र,
३३ चक्र, ३४ गदा, ३५ स्वस्तिक, ३६ नंदावर्त्तक (ये पांच
छट्ठे देवलोक में है).

आभं करेय गिद्धी ॥ केऊ गरुलेय होइ बोधव्वा ॥
बंभे बंभहिए पुण ॥ बंभुत्तर लंतए चेव ॥१२६॥

भावार्थः—३७ आभंकर ३८ गृधी, ३९ केतु, ४० गरुड, (ये चार महाशुक्र में) ४१ ब्रह्म, ४२ ब्रह्महित, ४३ ब्रह्मोत्तर, ४४ लांतक (ये चार सहस्सार में हैं)

महसुक सहस्सारे ॥ आणय तह पाणएय बोधव्वे ॥ पुप्फेलंकार आरण ॥ तहाविय अ-च्चुए चेव ॥ १३० ॥

भावार्थः—४५ महाशुक्र, ४६ सहस्सार, ४७ आणत, ४८ प्राणत (ये चार नवमे दशमे कल्प में) ४९ पुष्प, ५० अलंकार, ५१ आरण, ५२ अच्चुत (ये चार आरण तथा अच्चुत देवलोक में हैं)

सुदंसण सुपडि बद्धे ॥ मणोरमे चेव होइ पढमं तिगे ॥ तत्तोय सव्वभद्दे ॥ विसालए सुमणे चेव ॥ १३१ ॥

भावार्थः—५३ सुदर्शन. ५४ सुप्रतिबद्ध, ५५ मनोरम, (ये तीन ग्रैवेयक की पहिली त्रिकमें हैं) ५६ सर्वतोभद्र, ५७ वि-शाल, ५८ सुमनस, (ये तीन दूसरी त्रिकमें हैं)

सोमणसे पीइकरे ॥ आइच्चे चेव होइ तइय

त्तिगे ॥ सव्वट्ठ सिद्धि नामे ॥ इंदया एव बासठी१३२

भावार्थः—५९ सोमनस, ६० प्रीतिकर, ६१ आदित्य (ये तीन तीसरी त्रिकमें हैं) और ६२ वां पांच अनुत्तर विमान का सर्वार्थ सिद्ध नामक एक इंद्रक विमान है. ये इंद्रक विमान के बासठ नाम कहे.

पणयालीसं लक्खा ॥ सीमंतय माणुसं उडु सिवं च ॥ अपयट्ठाणो सव्वट्ठ ॥ जंबुद्दीवो इमं लक्खं ॥ १३३ ॥

भावार्थः—१ सीमंत नामा नरकावास, २ मनुष्य क्षेत्र, उडु विमान और सिद्ध शिला ये चार पदार्थ ४५ लाख योजन के है. तथा १ सातवीं नर्क का अपइट्ठाण नरकावास, सर्वार्थ सिद्ध विमान ३ जंबूद्वीप ये तीन पदार्थ लाख योजन के हैं.

अब उर्ध्वलोक अधोलोक का विवरण कहते हैं:—

अह भागासग पुढवीसु ॥ रज्जु इक्कि तहय सोहम्मे ॥ माहिंद लंत सहस्सार ॥ अच्चुय गेविज्ज लोगंते ॥ १३४ ॥

भावार्थः-मेरु के रूचक प्रदेश से सात राज ऊंचा उर्ध्व लोक है, तथा सात राज नीचा अधोलोक है, सब मिलकर चौदह राज का लोक है। अधोलोक में एक २ नरक घनोदधि घनवात, तनवात व आकाश समेत एक २ राज में है इस भांति ७ नरक के ७ राज होते हैं. और उर्ध्वलोक में सौधर्मदेवलोक के १३ वें प्रतर तक एक राज, माहेन्द्र देवलोक के अंतिम प्रतर तक दूसरा राज, लंतक देवलोक के अंतिम प्रतर तक तीसरा राज, सहस्रार तक चौथा राज, अच्युत तक पांचवां राज, ग्रैवेयक के अंत तक छठा राज और लोकांत तक सातवां राज जानना (राज असंख्यात जोजन का माप है.)

सम्मत्त चरण सहिया,सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं॥
सत्तय चउदसभाए, पंचय सुय देस विरइए।१३५।

भावार्थः-सम्यक्त्व चारित्र सहित केवली केवल समुद्-घात समय सम्पूर्ण लोक को फरसते हैं और सम्यक् चारित्र सहित उत्कृष्ट श्रुत ज्ञानी तपस्वी अनुत्तर विमान में उपजे तब चौदह भाग में से सात भाग (सात राज) स्पर्शे (फरसे) तथा सम्यक् चारित्र पाने के पेस्तर नरकायु का यदि बंध होवे तो छट्टी नर्क में उत्पन्न होवे तब श्रुत ज्ञानी देशविरती साधु

पांच राज फरसे उसका अधिकार ग्रंथांतर से जान लेना.

इति दूसरा द्वार समाप्त ।

अब तीसरा द्वार देवों की अवगाहना का कहते हैं.

भवण वण जोई सोहम्मी साणे सत्त हत्थ तणुमाणं ॥ दु दु दु चउक्के गेविज्ज णुत्तरे हाणि इक्किक्क ॥ १३६ ॥

भावार्थः— भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी, सौधर्म तथा ईशान देवलोक तक सात हाथ का देहमान, तीसरे चोथे में छ हाथ, पांचवे छठे में पांच हाथ, सातवें आटवें में चार हाथ, नव, दश ग्यारह तथा बारहवें तीन हाथ ग्रैवयक में दो हाथ और अनुत्तर विमान में एक हाथ का देहमान जानना ।

कप्प दुग दु दु दु चउगे पणगेय जिठठिइ अयरा ॥ दो सत्त चउदठारस॥ बावीसिग तीसति त्तीसा ॥ १३७ ॥ विवरे ताणि क्कुणे ॥ इक्कारस गाउ पाडिए ऐसा ॥ हत्थि क्कारस भागा ॥ अयरे अयरे समहियंमि ॥ १३८ ॥ चय पुव्व स-

रीराओ ॥ कमेण इगुत्तराइ वुड्ढीए ॥ एवं ठिई
विसेसा ॥ सणंकुमाराइ तणुमाणं ॥ १३६ ॥

भावार्थः—पहिले दूसरे देवलोक में दो सागरोपम, तीसरे चौथे सात सागरोपम, पांच में छट्ठे चौदह सागरोपम, सातवें आठवें में १८ सागरोपम नवमें से १२ तक २२ सागरोपम तथा नव ग्रैवेयक में ३१ सागरोपम और पांच अनुत्तर विमान में ३३ सागरोपम की उत्कृष्टी स्थिति है।

अब अधिक स्थिति में से कम स्थिति बाद करें (उसको विश्लेष कहते हैं) शेष जो रहे उसमें से एक कमी करे बादमें एक हाथका ग्यारह भाग करें उस भागमें से विश्लेप करके एक कमती करने में जो आंक बचा है उसके मुताबिक हाथके शेष भाग एक एक सागरोपम की वृद्धि होते. एक भाग कमती करते जाओगे इससे सनत्कुमारादि देवों का देहमान मालूम होगा।

उदाहरण—जैसे सौधर्म ईशान देवलोक में उत्कृष्टी स्थिति दो सागरोपम की है और सनत्कुमार माहेन्द्र में सात सागर की है अब सात में से दो बाद करें शेष पांच रहे उनमें से एक कमती किया तब चार रहा। अब सौधर्म ईशान में जो ७ हाथ का देहमान है उसमें से छ हाथ रक्खे और सातवें हाथके ग्या-

रहं भाग करें उसमें से चार भाग निकाल लीजिये शेष जो सात भाग रहे उन्हें छोड़ दीजिये जिससे सनत्कुमार माहेन्द्र देवलोक के ३ सागरोपम की आयु वाले देवों का देहमान छ हाथ पूरे और एक हाथ के ग्यारह भाग में चार भाग अधिक देहमान वैसे ही एक एक सागरोपम वढे जब एक एक भाग कमती करते जाइये जैसे ४ सागरोपम की आयुवाले की अवगाहना ६$\frac{3}{11}$ हाथ की ५ सागरोपम वाले की ६$\frac{2}{11}$ हाथ की छ सागरोपम वाले की ६$\frac{1}{11}$ हाथकी तथा सागरोपम वाले की पूरे छ हाथ की ईसभांति सर्व देवलोक में समझ लेमा.

भवधाराणिज्ज एसा ॥ उत्तर वीउव्वि जोयणा लक्खं ॥ गेविज्जणुत्तरेसु ॥ उत्तर वेउव्विया नत्थि ॥ १४० ॥

भावार्थः—उपरोक्त देहमान भवधारणीय शरीर का कहा मगर कारण वशात् जब विकुर्वणा करके वैक्रिय शरीर करे तो उसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक लाख योजन की है. नव ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर विमान में सिर्फ भवधारणीय शरीर ही होता है उनमें उत्तर वैक्रिय करने की शक्ति तो है मगर उनको उत्तर वैक्रिय करने की कोई आवश्यकता होती ही नहीं.

साहाविय वेउव्विय ॥ तणू जहन्ना कमेण पा- रंभे ॥ अंगुल असंख भागो ॥ अंगुल संखिज्ज भागोय ॥ १४१ ॥

भावार्थः—स्वाभाविक यानि भवधारणीय तथा उत्तरवैक्रिय इन दोनों शरीर का जघन्य अवगाहना कहते हैं प्रारम्भ में भवधारणीय शरीर की जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की तथा उत्तर वैक्रिय की जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग की होती है ए जघन्य शरीर प्रारम्भ काल में ही होता है अन्यथा नहीं.

इति देवों की अवगाहना का द्वार समाप्त ।

अथ उत्पात विरहकाल तथा च्यवन विरह काल कहते हैं:—

सामन्नेणं चउविह ॥ सुरेसु बारस मुहुत्त उक्को- सा ॥ उववाय विरह कालो ॥ अह भवणाईसु पत्तेयं ॥ १४२ ॥

भावार्थः—सामान्यतः चारों निकाय के देवों में समुच्चय १२ मुहुर्त का उत्कृष्ट उपपात विरहकाल जानना. अर्थात् चारों निकाय के देवता निरन्तर उत्पन्न होते हैं इनके उत्पन्न होने में

उत्कृष्ट अन्तर बारा मुहूर्त का होता है. बारा मुहूर्त के बाद अवश्य दूसरा देव उत्पन्न होता है. यह बात तो समुच्चय से कही अब भवनपत्यादिक प्रत्येक निकाय का विरहकाल कहते हैं.

भवण वण जोइ सोहम्मी ॥ साणेसु मुहुत्त चउवीसं ॥ तो नवदिण वीस मुहु ॥ बारस दिण दस मुहुत्ताय ॥ १४३ ॥ बावीस सड्ढदियहा ॥ पणयाल असीइ दिण सयं तत्तो संखिज्जा दुसु मासा ॥ दुसुवासा तिसु तिगेसु कमा ॥ १४४ ॥ वासाण सया सहस्सा ॥ लक्ख तह चउसु विजय माईसु ॥ पलिया असंख भागो ॥ सव्वट्ठे संख भागोय ॥ १४५ ॥

भावार्थः—भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी, सौधर्म तथा ईशान देवलोक में प्रत्येक में २४ मुहुर्त उत्कृष्ट उपपात विरहकाल है तत्पश्चात् निश्चय दूसरा देव आकर उत्पन्न होवे. सनत्कुमार में नव दिन वीश मुहूर्त का विरह काल, माहेन्द्र में बार दिवस दश मुहूर्त ब्रह्मलोक में २२॥ दिवस, लांतक में ४५ दिवस, शुक्र में ८० दिवस, सहस्सार में सो दिवस, आणत और

प्राणत में संख्याता मास यानि आणत में १० मास और प्राणत में ११ मास, आरण्य और अच्युत में संख्याता वर्ष का विरह काल यहां सो वर्ष तक संख्याता जानना सो वर्ष के वाद अवश्य दूसरा देव उत्पन्न होवे ग्रैवेयक की प्रथम त्रिकमें संख्याता शत वर्ष, मध्यम त्रिकमें संख्याता हजार वर्ष और उपरकी त्रिकमे संख्याता लाख वर्ष का उपपात विरहकाल, चार अनुत्तर विमान में पल्योपम के असंख्यातवें भाग का विरहकाल तथा सर्वार्थ सिद्ध में पल्योपम के संख्यातवें भाग का विरहकाल होवे.

सव्वेसिंपि जहन्नो ॥ समओ ए मेव चवण विरहोवि ॥ इगदुति संख मसंखा ॥ इगसमए हुंतिय चवंति ॥ १२६ ॥

अब देवगति में कौन कौन उत्पन्न होते हैं वह बतलाने को आगतिद्वार कहते हैं:-

भावार्थः—समस्त देवों में जघन्य एक समय का उपपात विरहकाल है और इसी प्रकार चवण विरहकाल भी समझ लेना. एक, दो, तीन, संख्याता अथवा असंख्याता देव एक समय में उत्पन्न होवे अथवा चवे.

नर पंचिंदिय तिरिया॥ गुप्पत्ती सुरभवे पज्जु-

त्ताणं ॥ अज्झवसाय विसेसा ॥ तेसिं गइ तारतम्मंतु ॥ १४७ ॥

भावार्थः—पर्याप्ता मनुष्य तथा पर्याप्ता तिर्यंच पंचेन्द्रिय ही देवगति मे उत्पन्न होते है. देवगति में ऋद्धि आयुष्य आदि में जो तारतम्यता है उसका कारण अध्यवसाय यानि मनो व्यापार की विचित्रता का है.

नर तिरि असंखजीवी ॥ सव्वे नियमेण जंति देवेसु, निय आउय समहीणा ॥ उएसु ईसाण अंतेसु ॥ १४८ ॥

भावार्थः—असंख्यात आयुष्य वाले युगलिक मनुष्य, वे तिर्यंच सब निश्चय से देवगति में से उत्पन्न होते हैं। युगलिक पणे में उनका यहां जितना आयुष्य होता है उतने ही आयुष्य से अथवा उसस कम आयुष्य से वे देवगति में उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट से युगलिक ईशान देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि उनकी उत्कृष्टायु तीन पल्योपम की है और इतनी आयु ईशान देवलोक तक ही हैं.

जंति समुच्छिम तिरिया ॥ भवण वणेसु न

जोइमाइसु ॥ जंतोसिं उववाओ ॥ पलिया संखंस आउसु ॥ १४९ ॥

भावार्थः—समूच्छिम तिर्यंच मरकर उत्कृष्ट पणे भुवनपति तथा व्यंतर में उत्पन्न होवे मगर ज्योतिष आदिक में न जावे क्योंकि समूच्छिम तिर्यंच उत्कृष्टपणे पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु वाले ही देव होते हैं.

वालतवे पडिवद्धा, उक्कड रोसा तवेण गारविया।
वेरेणय पडिवद्धा, मरिउं असुरेसु जायंति ।१५०।

भावार्थः—वालतप (मिथ्यात्वी जीवों के पंचाग्नि प्रमुख तप) में आसक्त होवे, तपस्वी होने पर भी उत्कृष्ट रोष करे, तपका गर्व (मद) करे अथवा तपस्वी होकर भी कृष्ण द्वैपायन की भांति वैरभाव बांधे ऐसे जीव मरकर असुरकुमार भुवन-पति में उत्पन्न होते हैं ॥

रज्जुगाह विस भक्खण ॥ जल जलण पवेस तण्ह छुह दुहओ ॥ गिरिसिर पडणाउ मुया ॥ सुहभावा हुंति वंतरिया ॥ १५१ ॥

भावार्थः—रसी की फांसी गले में डालकर, अथवा विष

भक्षण करके या जलमें डूबकर या अग्निमें प्रवेश करके या तृषा से या क्षुधा से पीड़ित होकर के या विरहादिक से व्याकुल होकर के अथवा पर्वत के शिखर परसे गिरकर मरे. इन स्थानक में आत्मघातादिक करते हुए अभ्यंतर रौद्र परिणाम के अभाव से और मंद शुभ परिणाम से मरकर जीव व्यंतर देव की गति पावे.

तावस जा जोइसिया ॥ चरग परिव्वाय बंभलोगो जा ॥ जा सहस्सारो पंचिंदि ॥ तिरिय जा अच्चुओ सड्ढा ॥ १५२ ॥

भावार्थः-तापस जाति मरकर ज्योतिषी पर्यंत जावे तथा चरक (चार पांच का समुदाय होकर भिक्षा से निर्वाह करने वाले) और परिव्राजक (कापिलमति त्रिदंडक) मरकर उत्कृष्टसे ब्रह्मदेवलोक पर्यंत जावे. गर्भज पर्याप्ता पंचेंद्रिय हाथी बलद मत्स्य तिर्यंच संबल कंबल सदृश सम्यक्त्व देशविरति मरकर सहस्सार देवलोक पर्यंत जावे. देशविरति श्रावक मरकर बारहवां अच्युत देवलोक तक जावे'

जइ लिंग मिच्छ दिट्ठी ॥ गेविज्जा जाव जंति उक्कोसं ॥ पयमवि असद्दहंतो ॥ सुत्तत्थं मि-

च्छदिट्ठिओ ॥ १५३ ॥

भावार्थः—रजोहरणादिक साधु के वेषधारी साधुके वेषमें मिथ्या दृष्टि होवे वह क्रिया के बलसे उत्कृष्ट से नवमी ग्रैवेयक तक उपजे ऐसे साधु द्वादशांगी सूत्र पर श्रद्धावान होते तो हैं मगर यहां सूत्रोक्त एक पद पर भी यदि अश्रद्धा लावे तो उनको भी देशतः मिथ्यात्वी कहे हैं.

सुत्तं गणहर रइयं ॥ तहेव पत्तेय बुद्ध रइयंच ॥ सुय केवलिणा रइयं, अभिन्न दस पुव्विणा रइयं१५४

भावार्थः—सुधर्म स्वामी प्रमुख गणधर के बनाये हुए आचारांगादिक सूत्र तथा नमिराज प्रमुख प्रत्येक बुद्धके रचे हुए नेमिप्रवर्ज्यादिक सूत्र तथा चौदह पूर्वधर श्रुत केवली सय्यंभवसूरि प्रमुख के रचे हुए दशवैकालिकादिक सूत्र और संपूर्ण दश पूर्वधर के रचे हुए जो शास्त्र हैं उन सर्व को सूत्र कहते हैं.

छउमत्थ संजयाणं ॥ उववा उक्कोसओ अ सव्वट्ठे ॥ तेसिं सढाणं पिय ॥ जहण्णओ होइ सोहम्मे ॥ १५५ ॥

भावार्थः—छद्मस्थ साधु उत्कृष्ट से सर्वार्थसिद्ध विमान तक उत्पन्न होवे और छद्मस्थ साधु तथा श्रावक जघन्य सौधर्म देव लोक में उत्पन्न होवे मगर इतना विशेष है कि छद्ममस्थ साधु की आयु सौधर्म देवलोक में पृथक्त्व २ से ९ पल्योपम की तथा श्रावक की एक पल्योपम की आयु होती है.

लंतंमि चउद पुव्विस्स तावसाईण वंतरेसु तहा ॥ एसिं उववाय विहि ॥ निय किरिय ठिं-याण सव्वोवि ॥ १५६ ॥

भावार्थः—चौदह पूर्वधर साधु जघन्य लांतक देवलोक में उपजे, तापस, सन्यासी, शाक्यादिक जघन्य व्यंतर में उपजे मगर उन सबके उत्पन्न होने की जो विधि बतलाइ है वह उन की अपेक्षा से है कि जो अपनी २ क्रिया में स्थित यानि सावधान है.

अब संघयण का स्वरूप कहते हैं.

वज्जरिसहनारायं । पढमं बीयं च रिसहं नारायं ॥ नारायमद्ध नाराय ॥ कीलिया तहय छेवट्ठं ॥ १५७ ॥ एए छ स्संघयणा ॥ रिसहो पट्टोय कीलिया वज्जं ॥ उभओ मक्कड बंधो ॥ नाराओ होइ विन्नओ ॥ १५८ ॥

भावार्थः—शरीर में हड्डीयों का दृढ़ दृढतर जो बंध है, उसे संघयण कहते हैं उसके छ प्रकार हैः—१ वज्रऋषभ नाराच, २ ऋषभनाराच, ३ नाराच, ४ अर्द्धनाराच ५ कीलिका और ६ छेवठ अर्थात् सेवार्त्त अब उसका अर्थ कहते हैं, हड्डिकी संधिपर जो पाटकी भांति लपेटा हुआ रहता है उसे ऋषभ कहते, उसके उपर जो कीला होता है उसे वज्र कहते हैं और हड्डी की दोनों संधि को मर्कटाकार जो वन्ध अन्दर २ मिलित होता है उसे नाराच कहते हैं. उपरोक्त तीनों सम्मिलित होने से वज्र ऋषभ नाराच संघयण कहलाता है. कीलिका रहित दूसरा ऋषभ नाराच संघयण. केवल मर्कट बंध सो तीसरा नाराच संघयण, एक तरफ मर्कटबंध और दूसरी तरफ कीलिका वह चौथा अर्ध नाराच सं०, जिसमें हड्डी का बंध सिर्फ कीलिका से (कीलीसे) होते हैं वह पांचवां कीलिका सं० तथा जिसमें दोनों हड्डी का छेडा एक दूसरे से यों ही लगा २ जुड़ा हुआ हो मगर किसी तरह की बंध न हो उसे सेवार्त्त संघयण कहते हैं. सेवार्त्त का छेद पृष्ठ ऐसा नाम भी टीका में पाया जाता है.

छ गब्भ तिरी नराणं ॥ समुच्छिम पणिंदि विगल छेवट्ठं ॥ सुरनेरइया एगिंदियाय ॥ सव्वे असंघयणा ॥ १५६ ॥

भावार्थः—गर्भज तिर्यंच तथा मनुष्य को छहों संघपण होते है, समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा समूर्च्छिम मनुष्य को एक छेवट्ठ संघपण होता है, तथा तीन विकलेन्द्रिय (बेंद्री, तेंद्री, चौरेन्द्री) को भी छेवट्ठ संघपण होता है. देवता, नारकी तथा समस्त एकेंद्रिय को असंघपणी कहे हैं अर्थात् उनमें अस्थि की रचना न होने से संघपण भी नहीं है.

छेवट्ठेणं उगम्मई ॥ चउरो जा कप्प कीलिया-ईसु ॥ चउसु दु दु कप्प वुड्ढी ॥ पढमेणं जाव सिद्धीवि ॥ १६० ॥

भावार्थः—छेवट्ठ संघयण के धारक भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा वैमानिक में यावत् चतुर्थ देवलोक तक उत्पन्न होते हैं, कीलिका सं० धारक छट्टा देवलोक पर्यंत, अर्ध नाराच वाले सहस्सार तक, नाराच वाले प्राणत पर्यंत, ऋषभ नाराच वाले अच्युत तक, और वज्र ऋषभ नाराच वाले सर्वत्र अर्थात् सिद्ध गति में भी उत्पन्न होते हैं.

अब छ स्थान कहते हैं.

समचउरंसे नग्गोह ॥ साइ वामणय खुज्ज

हुंडेय ॥ जीवाण छ संठाणा ॥ सव्वत्थ सुलक्ख-
णं पढमं ॥ १६१ ॥ नाहीए उवरि बीयं ॥ तइय
महो पिठ्ठि उयर उरवज्जं ॥ सिर गीव पाणि
पाए ॥ सुलक्खणं तं चउत्थंतु ॥ १६२ ॥ विवरीयं
पंचमगं ॥ सव्वत्थ अलक्खणं भवे छट्ठं ॥ गब्भय
नर तिरिय छहा ॥ सुरासमा हुंडया सेसा ॥ १६३ ॥

भावार्थः—१ समचउरंस, २ न्यग्रोध परिमंडल, ३ सादि, ४ वामन, ५ कुब्ज और हुंडक इस प्रकार जीव के छ संस्थान होते हैं और अजीव के पांच संस्थान हैं:—१ परिमंडल, २ वृट्ट, ३ त्रिस, ४ चउरंस, और आयत हैं. शरीर के सर्व अवयव प्रमाणोपेत होवे और पद्मासन वैठे हुए दो स्कंध और दो घुंटण यों चारों के खूणे नापने से समान अन्तर होवे सो समचउरंस संठाण. और जो वटवृक्ष के सदृश नाभी के नीचे तो हीन (दुर्बल) होवे और उपर लक्षणोपेत होवे सो न्यग्रोध परिमंडल संस्थान. जो नाभी के उपर हीन और नीचे लक्षणोपेत सो सादि संठाण. पीठ उदर और हृदय ये हीन लक्षण युक्त होवे और शेष अंग मस्तक, ग्रीवा, हाथ पैर सुलक्षण युक्त सो कुब्ज

संस्थान. तथा समस्त शरीर के अवयव विपरीत लक्षण युक्त होवे सो हुंडक संस्थान.

अब ये छहों संस्थान किस किस जीवों के होते हैं सो कहते हैं.

गर्भज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यंच में छहों संस्थान होवे, देवों में एक समचउरंस संस्थान होवे. नारकी, एकेन्द्री, बेंद्री, तेंद्री, चउरिंद्रिय समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच और समूर्च्छिम मनुष्य इन सब में हुंडक संस्थान होते हैं.

अब देवों का आगति द्वार कहते हैं.

जंति सुरा संखाउय गब्भय पज्जत्त मणुय तिरिएसु ॥ पज्जत्तेसु य बायर ॥ भूदग पत्तेय गवणेसु ॥ १६४ ॥

भावार्थः—चारों निकाय के देव देवगति में से चवकर संख्याता वर्ष की आयु वाले गर्भज पर्याप्ता मनुष्य तिर्यंच में उत्पन्न होते हैं (युगलिक नहीं होते) इसके अतिरिक्त पर्याप्ता बादर पृथ्वीकाय, अपकाय और प्रत्येक वनस्पति काय इन तीनों में भी देवता मरकर उत्पन्न होते हैं शेष स्थानक में उत्पन्न नहीं होते हैं.

तत्थवि सणंकुमारं ॥ पभिई एगिंदिएसु नो जंति ॥ आणय पमुहा चविउं ॥ मणुएसु चेव गच्छन्ति ॥ १६५ ॥

भावार्थः-उपरोक्त आगति में इतना विशेष कि सनत्कुमार से लेकर सहस्सार तक के देव चवकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते हैं. और आणत से लेकर सर्वार्थ सिद्ध पर्यंत के देव चव कर गर्भज पर्याप्ता संख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्यही होते हैं.

अथ देवों के संभोग की रीति कहते हैं ।

दो कप्प काय सेवी ॥ दो दो दो फरिस रूव सद्देहिं ॥ चउरोमणेणु वरिमा ॥ अप्प वियारा अणंत सुहा ॥ १६६ ॥

भावार्थः-भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी तथा सौधर्म ईशान देवलोक के देव काय सेवी होते हैं अर्थात् भोगकी वांछना होने से देवांगना के साथ मनुष्य के माफिक भोग करते हैं। सनत्कुमार तथा माहेंद्र इन दो देवलोक के देव देवांगना के स्तन भुजा आदि के आलिंगन से ही संभोग सुख मानते हैं. ब्रह्मलोक तथा लांतक के देव सीर्फ देवांगना के रूप को देखने मात्रसे

तृप्ति पाते हैं। शुक्र और सहस्रार के देव अपने भोग योग्य देवांगना के गीत, हास्य, विलास, भाषित, भूषण, नेपूर प्रमुख के शब्द श्रवण कर काम सुखका अनुभव करते हैं. तथा आ-णतादिक चारों देवलोक के देव अपनी भोज्य देवी का मनमें चिन्तवन करते हैं जब वह देवी भी अपने स्थानक में रही हुई शृंगारादि सजकर मनमें भोगकी अभिलाषा उन देवसे करती है और मनोव्यापार से ही दोनों व्यक्ति को तृप्ति हो जाती हैं. नव ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर विमान के देव अप्रवीचारा यानि विषय सेवारहित होकर भोगकी इच्छा नहीं करते हैं. गुरुमुख से विरति न लेने से और अविरति कर्मोदय से उनको चारित्री ब्रह्मचारी नहीं कहते. कायसेवा की अपेक्षा स्पर्श सेवा का सुख अनंतगुणा अधिक होता है इसी प्रकार स्पर्श सेवा से रूप सेवा का सुख अनंत गुण अधिक रूप सेवासे शब्द सेवा का सुख अनंत गुणा अधिक. और शब्द सेवा से मनसेवा का सुख अनंत गुणा अधिक होता है.

जंच कामसुहं लोए ॥ जंच दिव्वं महासुहं ॥
वीयराग सुहस्सेय ॥ णंत भागं पि नग्घइ ॥१६७॥

भावार्थः—लोक में जो काय सेवा रूप काम सुख है तथा देवता सम्बन्धी जो परमसुरत सुख है वह सब सुख श्री वीतराग

यानि रागद्वेष रहित मुनीश्वरों के प्रशमसुख के अनंत वे हिस्से में भी नहीं है.

अब देवीका उत्पत्ति स्थान कहते है.

उववाओ देवीणं॥ कप्प दुगं जा परो सहस्सारा॥
गमणा गमणं नात्थि॥ अच्चुय परओ सुराणंपि१६८

भावार्थः—भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी, सौधर्म और ईशान देवलोक इन स्थानों में देवियों की उत्पत्ति होती है. उसके उपर देवियों उत्पन्न नहीं होती है परन्तु देवों के भोगके लिये ऊपर के देवलोक में सहस्सार देवलोक तक सौधर्म, तथा ईशान देवलोक की अपरिगृहिता देवी जा सकती है. सहस्सार से ऊपर के आणतादि देवलोकों में देवियों का गमनागमन (जाना आना) नहीं है. तथा अच्युत देवलोक से ऊपर के देवों के गमनागमन (जाना आना) नहीं है. ग्रैवेयक तथा अनुत्तर विमानवासी देव अपनी शय्या से पैर तक भी नीचे नहीं रखते और न कोई कल्पवासी देव वहां जा सकते है.

अब किल्बीषी देवों के स्थानक कहते है.

तिपलिय तिसार तेरस॥ सारा कप्प दुगतइय

लंत अहो ॥ किव्विसिय न हुंति उवरिं ॥ अच्चुय परओभि ओगाई ॥ १६६ ॥

भावार्थः—अशुभ कर्मोदय से देवगति में भी चंडाल सदृस देव उत्पन्न होते हैं उन्हें किल्विषी कहते हैं. तीन पल्योपम के आयुष्य वाले किल्विषी देव सौधर्म ईशान देवलोक के नीचे रहते हैं और तीन सागरोपम के आयुष्य वाले किल्विष देव सनत्कुमार के निचे रहते हैं और तेरह सागर के आयुष्य वाले किल्विषी देव लांतक देवलोक के अधोभाग में रहते है. इसके ऊपर किल्विषी देव की उत्पत्ति नहीं हैं.

अच्युत देवलोक से उपर अभियोगि का दिक देवों (आत्मरत्तक, सामानिक आदि) उत्पन्न न होवे किन्तु इन ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर विमान में समस्त देव स्वयमेव इन्द्र समान ही है.

अपरिग्गह देवीणं ॥ विमाणलक्खा छ हुंति सोहम्मे ॥ पलिया ई समयाहिय ॥ ठिइ जासि जाव दसपलिया ॥ १७० ॥ ताओ सणं कुमारा ॥ एवं वढ्ढंति पलिय दसगेहिं ॥ जा बंभ सुक्क आणय ॥ आरण देवाण पन्नासा ॥ १७१ ॥ ई-

साणे चउलक्खा ॥ साहिय पलियाइ समय अ-
हिअ ठिइ ॥ जा पंनर पलिय जासिं ॥ ताओ
माहिंद देवाणं ॥ एएण कमेण भवे ॥ समयाहिय
पलिय दसग वुद्धीए ॥ लंत सहस्सार पाणय ॥
अच्चुय देवाण पण पन्ना ॥ १७२ ॥

भावार्थः—केवल अपरिगृहिता देवियों के ही छः लाख वि-
मान सौधर्मदेवलोक में हैं, उनमें से जिन देवियों की आयु एक
पल्योपम की हैं वे देवीयां सौधर्मवासी देवों के भोग योग्य है.
और जिन देवियों की आयु एक पल्योपम से एक समय भी
अधिक है ऐसी यावत् दश पल्योपम की आयु वाली सर्व अप-
रिगृहिता देवी सनत्कुमारवासी देवों के उपभोग योग्य हैं. परन्तु
वे देवियां इससे ऊपर के देवों की वांछा न करे. वैसे ही दस
पल्योपम से एक समय, दो समय अधिक यावत् वीस पल्यो-
पम तक के आयुष्य वाली देवियां ब्रह्मलोकवासी देवों के भोग
योग्य जानना. उसी प्रकार एक समय से लेकर दश पल्योपम
का फेर वृद्धि करते जाना यानि समयाधिक वीस पल्योपम से
३० पल्योपम तक के आयु वाली देवियां शुक्रवासी देवों के
भोग योग्य हैं. तथा समयादिक वृद्धि से ४० पल्योपम तक

आयुष्य वाली देवियां आणतवासी देवों के भोग योग्य हैं. पुनः समयादिक वृद्धि से ५० पल्योपम तक की आयु वाली देवियां आरणवासी देवों के उपभोग योग्य हैं.

अब ईशान देवलोक में अपरिगृता देवियों के ४ लाख विमान हैं, उनमें से जिन देवियों की कुछ अधिक एक पल्योपम की आयुष्य है वे देवियां ईशानवासी देवों के भोग योग्य हैं. तत्पश्चात् समयादि वृद्धि से यावत् १५ पल्योपम की आयु वाली देवियां मांहेंद्रवासी देवों के भोग योग्य हैं. पच्चीस पल्योपम के आयु वाली देवियां सहस्सारवासी के भोग योग्य हैं. पेंतालीस पल्योपम की आयु वाली प्राणतवासी के भोग योग्य तथा पचपन्न पल्योपम की आयु वाली अच्युत देवलोकवासी देवों के भोग योग्य हैं.

अब देवों की लश्या कहते हैं.

किन्हा नीला काऊ ॥ तेऊ पम्हाय सुक्क लेसाओ ॥ भवण वण पढम चउलेस, जोइस कप्प दुगे तेऊ ॥ १७४ ॥ कप्पतिय पम्ह लेसा ॥ लंता इसु सुक्क लेस हुंति सुरा ॥

भावार्थः—कृष्ण, नील कापोत, तेजु, पद्म और शुक्ल ये

छ लेश्याएं हैं, इनमें से भुवनपति और व्यंतर को कृष्ण, नील कापोत और तेजु ये चार लेश्याएं होती हैं। ज्योतिषी में और सौधर्म ईशान इन दो देवलोक में एक तेजुलेश्या होती है। सनत्कुमार, माहेंद्र और ब्रह्म लोक इन तीन देवलोग में पद्म लेश्या होती है। तथा लांतक से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यंत के देवों को एक शुक्ल लेश्या ही होती है।

अब वैमानिक देवों का वर्ण कहते हैं।

कणगाभ पउम केसर ॥ वन्ना दुसु तिसु उवरि धवला ॥ १७५ ॥

भावार्थ—सौधर्म, ईशानवासी देवों के शरीर रक्त सुवर्ण जैसी कांति वाले हैं. तीसरे चौथे और पांचवें देवलोक के देवों के शरीर कमल पुष्प के पराग (केसर) सदृश हैं. ऊपर के लांतक आदि देवलोक में देवों के शरीर धवल यानि शुक्ल, शुक्लतम उत्तरोत्तर जानना.

अब देवों के आहार तथा श्वासोश्वास का स्वरूप कहते हैं.

दसवास सहस्साइं ॥ जहन्नमाउं धरंति जे

देवा ॥ तेसिं चउथा हारो ॥ सत्तहिं थोवेहिं ऊसासो ॥ १७६ ॥

भावार्थः—भुवनपति और व्यन्तर में १० हजार वर्ष की जघन्यायु वाले जो देव हैं उनके चउथभक्त में यानि एक अहो-रात्रि के अंतर से आहार की इच्छा होवे और सर्व इंद्रियों को आल्हादकारी मनोज्ञ पुद्गल से इच्छा को तृप्त करें. और सात स्तोक में श्वासोच्छ्वास होवे (सात स्तोक में ऊंचा श्वास लेवे और सात स्तोक में नीचा श्वास) छोड़े.

अब पूर्वोक्त स्तोक का प्रमाण कहते हैं.

आहि वाहि विमुक्कस्स ॥ नीसासूस्सास एगगो ॥ पाणुसत्त इमो थोवो ॥ सोवि सत्तगुणो लवो ॥ १७७ ॥ लव सत्तहत्तरीए ॥ होइ मुहुत्तो इमंमि उसासा ॥ सगतीस सयतिहुत्तर ॥ तीस-गुणा ते अहोरत्ते ॥ १७८ ॥ लक्खं तेरस सह-स्सा ॥ नउयसयं अयर संखया देवे ॥ पक्खेहिं ऊसासे ॥ वास सहस्सेहिं आहारो ॥ १७९ ॥

भावार्थः—आधि (मन की पीड़ा) और व्याधि (शरीर की पीड़ा) से विमुक्त अर्थात् चिंता और श्रम से रहित मनुष्य के एक निश्वास उश्वास को प्राण कहते हैं और ऐसे सात प्राण का एक स्तोक होता है, सात स्तोक का एक लव होता है, ७७ लव का एक मुहूर्त होता है, एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोश्वास होते हैं, और एक अहोरात्रि में ११३१६० श्वासोश्वास होते हैं. अब जिस देव की जितने सागर की आयुष्य है उस देव का उतने ही पक्ष का श्वासोश्वास होता है और उतने ही हजार वर्षों के बाद उसको आहार की इच्छा होती है. जिस देव की एक सागर की आयु होवे उसको एक पक्ष में तो उश्वास होवे और एक हजार वर्ष के बाद आहार की इच्छा होवे वैसेही सर्वार्थ सिद्ध में तेतीस सागरोपम की आयु है तो तेतीस पक्ष में श्वासोश्वास और तेतीस हजार वर्ष में आहार की इच्छा होती है.

दस वास सहस्सुवरिं ॥ समयाई जाव सागरं ऊणं, दिवस मुहुत्त, पहुत्ता आहारूसास सेसाणं ॥ १८० ॥

भावार्थः—जिस देव की आयु दशहजार वर्ष से एक समय अधिक से लेकर कुछ कम एक सागरोपम की है उस देव को

दिवस पृथक्त्व में आहार की इच्छा और मुहूर्त पृथक्त्व में श्वासोश्वास होवे. दो से नव तक की संख्या को पृथक्त्व की संज्ञा दीगई है.

अब आहार के तीन भेद कहते हैं.

सरिरेण उयाहारो ॥ तयाइ फासेण लोम आहारो ॥ पक्खे वा हारो पुण ॥ कावलिओ होइ नाइव्वो ॥ १८१ ॥

भावार्थः—केवल तैजस शरीर से ही जो आहार किया जाता है उसको ओज आहार कहते हैं, स्पर्शेंद्रिय से जो आहार होता है (तेल मालिसादि द्वारा) उसको लोम आहार कहते हैं तथा कवल आदि जो आहार मुख में डाले जाते हैं उसको प्रक्षेपाहार अर्थात् कवल आहार कहते हैं.

ओयाहारा सव्वे ॥ अपजत्त पजत्त लोम आहारो ॥ सुर निरय इगिंदि विणा ॥ सेसा भवत्था स पक्खेवा ॥ १८२ ॥

भावार्थः—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्रमुख सर्व अपर्या-

प्ता जीव उत्पत्ति समय में ओज आहारी होते हैं और पर्याप्ता-वस्था में लोम आहार होवे. तथा देवता, नारकी और एकेंद्री के अलावा शेष समस्त संसारी जीव बेंद्री, तेंद्री, चौरेंद्री, पंचेंद्री, तिर्यंच और मनुष्य ये सब कवलाहारी होते है. देवता नारकी और एकेंद्री को कवलाहार नहीं है किन्तु पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद लोमाहारी होते हैं.

सच्चित्ता चित्तो भय ॥ रूवो आहार सव्व तिरियाणं ॥ सव्व नराणं च तहा सुर नेरइयाण अच्चित्तो ॥ १८३ ॥

भावार्थः—सर्व तिर्यंच और सर्व मनुष्य सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार के आहार करते हैं तथा देवता और नारकी सदैव अचित्त आहार करते हैं.

आभोगा णाभोगा ॥ सव्वेसिं होइ लोम आहारो ॥ निरयाणं अमणुन्नो ॥ परिणमइ सुराण समणुन्नो ॥ १८४ ॥

भावार्थ.—पर्याप्तावस्था में जानते हुए या अनजान पणे लोम आहार करते हैं; यथा वर्षाकाल में शीतल पुद्गल के स्पर्श

से अधिक मूत्र श्रवता है वह लोम आहार का परिणाम है. वह लोमाहार नारकी को अशुभ कर्मोदय से अमनोज्ञ रूप से परिणमता है और वही लोमाहार देवों के शुभ कर्मोदय से मनोज्ञ रूप से परिणमता है.

तह विगल नारयाणं ॥ अंतमुहुत्ता सहोइ उक्कोसो ॥ पंचिंदि तिरि नराणं ॥ साहाविओ छठ अठमओ ॥ १८५ ॥

भावार्थः-तीन विकलेन्द्रिय तथा नारकी को उत्कृष्टपणे अंतर्मुहूर्त में आहार की इच्छा होवे और तिर्यंच पंचेंद्री को स्व-भाव से (ताप रोगादिक के अभाव में) दो अहोरात्रि के बाद आहार की अभिलाषा होवे और मनुष्य को तीन अहोरात्रि के बाद आहार की अभिलाषा होवे ये दोनों आहारांतर उत्कृष्ट रूप से बतलाया गया है सो देवकुरु उत्तरकुरु में तथा भरत एरव्रत में सूषम सूषम कालमें तीन पल्योपम की आयु वाले मनुष्य तिर्यंच आश्री समझना चाहिये ।

अब कौन आहारक और कौन अनाहारक ? सो कहते हैं.

विग्गह गइ मावन्ना ॥ केवलिणो समुहया अजोगीया ॥ सिद्धाय अणाहारा ॥ सेसा अहा-रगा जीवा ॥ १८६ ॥

भावार्थः—विग्रहगति में रहा हुआ जीव उत्कृष्ट चार समय अणाहारी होवे, केवली भगवान् केवल समुद्घात करते वक्त तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अणाहारक होते हैं क्योंकि उस समय सिर्फ एक कार्मणकाय योग ही होता है. और चौदहवां गुणस्थानकवर्ती अयोगी केवली तथा सिद्ध भगवंत भी अणाहारक होते हैं. शेष सर्व जीव आहारक होते है.

अब देवता का स्वरूप कहते हैं।

केसट्ठि मंस नह रोम ॥ रुहिर वस चम्म मुत्त पुरिसे हिं ॥ रहिया निम्मल देहा ॥ सुगंध नीसास गय लेवा ॥ १८७ ॥

भावार्थः— सर्व देवों के पूर्वकृत शुभकर्म के उदय से केश, हड्डी, मांस, नख, रोम, रूधिर, वसा (मांस की चरबी) चमड़ी, मूत्र, विष्ठा इनसे रहित निर्मल शरीर होते है। उनके निश्वास की सुगंध कपूर तथा कस्तुरी की सुगन्ध समान होती है तथा रज पसीना आदि दुर्गंधी रहित होते हैं.

अंतमुहुत्तेणंचिय पज्जत्ता तरुण पुरिस संकासा ॥ सव्वंग भूषणधरा ॥ अजरा निरुया समा देवा ॥ १८८ ॥

भावार्थः—उत्पन्न होते ही अंतर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण होजाने के बाद तरूण पुरुष के समान सर्वांग में आभूषण धारण किये हुए जरा रहित, रोग रहित तथा समचतुरस्र संस्थानी सब देव होते हैं.

अणिमिस नयणा मण ॥ कज्ज साहणा पुप्फ दाम अभिलाणा ॥ चउरंगुलेण भूमिं ॥ न छिवंति सुरा जिणा विंति ॥ १८९ ॥

भावार्थः—देवों के नेत्र अनिमिष होते हैं यानि आंखों का टीमकार नहीं होता है और सर्व कार्य मानसिक शक्तियें सिद्ध करते हैं. उनके केशमें फुलों की माला निरंतर अम्लान (निकसी हुइ) रहती है, वे जब मनुष्यलोक में आते है तब पृथ्वी से चार अंगुल उचा पैर रखते हैं किन्तु भूमिका का स्पर्श नहीं करते श्री तीर्थंकर देव ने ये बातें कही है.

पंचसु जिणकल्लाणेसु ॥ चेव महारिसि तवाणु-भावाओ ॥ जम्मंत्तर नेहेणय ॥ आगच्छंति सुरा इहयं ॥ १९० ॥

भावार्थः—श्री तीर्थंकर के जन्मादिक पंच कल्याणक में, किसी महर्षि के तपके प्रभाव से तथा जन्म जन्मांतर के स्नेह से

(शालिभद्र के पिता जी गौभद्र की भांति) अथवा रोष से (संगम देवकी तरह) इन कारणों से देव यहां आते हैं किन्तु विना प्रयोजन नहीं आते हैं.

संकंति दिव्वपेमा॥ विषय पसत्ता समत्त कत्तव्वा॥ अणहीण मणुयकज्जा ॥ नरभव समुहं नइंति सुरा ॥ १६१ ॥

भावार्थः—देवों को—देवगति में उत्पन्न होते ही—देवांगना के साथ परस्पर दिव्य प्रेमका संचार होता है और उन देवियों के साथ शब्दादिक विषय में अत्यंत आसक्त होजाते हैं कि एक मुहूर्त मात्रका भी उनसे वियोग सहन नहीं हो सकता, इसके अलावा स्नान, वनविहार, नाटक विलोकन प्रमुख देव कार्य पूर्ण होते नहीं तथा मनुष्य के साथ किसी प्रकार का कार्य प्रयोजन नहीं है इन कारणों से अशुभ दुर्गंधमय ऐसे मनुष्य लोक में देव नहीं आते हैं.

चत्तारि पंच जोयण ॥ सयाइ गंधोय मणुय लोगस्स ॥ उड्ढं वच्चइ जेणं ॥ नहु देवा तेण आवंति ॥ १६२ ॥

भावार्थः—मनुष्य लोक संबन्धी मृत कलेवर, मलमूत्र आदि की दुर्गंधी (बदबू) चारसो पांचसो योजन पर्यंत उंचे फैलती है इन कारणों से देवता मनुष्य लोक में नहीं आते हैं.

अब देवों के भवप्रत्यायिक अवधि ज्ञानका विषय क्षेत्र कहते हैं.

दो कप्प पढम पुढवि॥ दो २ बीय तइयगं चउथिं॥ चउ उवरिम ओहीए ॥ पासंति पंचमं पुढविं१६२

भावार्थः—प्रथम के दो देवलोक के देव पहिली नर्क पृथ्वी पर्यंत अवधिज्ञान से देख सकते हैं, सनत्कुमार और माहेंद्र के देव दूसरी शर्करा प्रभा तक देख सकते हैं। ब्रह्म और लांतक वासी देव तीसरी वालु का प्रभा पर्यंत देखे, शुक्र और सहस्रार वासी देव चौथी पंक प्रभा तक देखे, आणत, प्राणत, आरण और अच्युतवासी देव पांचवी धूम्र प्रभा तक देखे।

छट्ठि छ ग्गेविज्जा ॥ सत्तमीयरे अणुत्तर सुराऊ ॥ किं चूंण लोगनालिं॥ असंख दीवुदहिं तिरियंतु ॥ १६४ ॥

भावार्थः—तीन नीच के और तीन मध्य के एव छ ग्रैवेयक के देव छट्ठी तमप्रभा तक देखे और उपर के तीन ग्रैवेयक के देव सातवीं तमस्तमप्रभा नर्क पृथ्वी तक देखे और पंच अनुत्तर

विमान वासी देव कुछ कम समस्त लोकवासी को देखते हैं यानि उंचे तो अपनी विमान की ध्वजा पर्यंत ही देख सकते हैं किंतु नीचे सातवी नर्क के आखिरी चरमांत तक संपूर्ण लोक को देख सकते हैं। अब तिर्च्छा दिशा में कौन कहांतक देख सकते हैं वह कहते हैं। सौ धर्म ईशान वासी देव असंख्यात द्वीप समुद्र को देख सकते हैं।

वहु अरगं उवरि मगा ॥ उढंस विमाण चूलिय धयाइ ॥ ऊणद्ध सागरे संख ॥ जोयणा तप्पर मसंखा ॥ १६५ ॥

भावार्थः—वहां से ज्यों २ उपर जावें त्यों २ अधिक अधिकतर तीर्च्छा ज्ञान होता है और उंचे तो समस्त देवलोक के देव अपने २ विमान की चूलिका की ध्वजा तक ही देखते हैं। यह उत्कृष्ट अवधिज्ञान कहा जघन्य से तो सर्व वैमानिक देव में अंगुल के असंख्यात भाग का अवधि ज्ञान होता है। अब भुवनपति, व्यतंर, और ज्योतिषी देवों में से जिनकी आयु कुछ अर्ध सागरोपम की है वे अवधि ज्ञान से संख्याता योजन तक देख सकते हैं, और जिनकी आयुष्य इससे अधिक है वे देव असंख्याता योजन तक देखते हैं आयुवृद्धि के साथ अवधिज्ञान भी वृद्धिगत होता है।

पणवीस जोयण लहु ॥ नारय भवण वण जोइ कप्पाणं ॥ गेविज्जणुत्तराणय ॥ जह संख ओहि आगारा ॥ १६६ ॥

भावार्थः-दश हजार वर्ष की आयुवाले भुवनपति तथा व्यंतर जघन्य २५ योजन देखे । १ नारकी, २ भुवनपति, ३ व्यंतर, ४ ज्योतिषी, ५ वार देवलोक के देव, ६ नव ग्रैवेयक वासी देव तथा ७ पांच अनुत्तर विमान वासी देव इन सातों के क्रमशः अवधिज्ञान का संस्थान (आकार) कहते हैं।

तप्पगारे पल्लग ॥ पडहग जल्लरि मुहंग पुप्फ जवे ॥ तिरिय मणुएसु ओही ॥ नाणाविह संठिओ भणिओ ॥ १६७ ॥

भावार्थः—नारकी का अवधिज्ञान पाणी के ऊपर तिरने त्रापे के आकार में है, भुवनपति का अवधिज्ञान पाला के आचार में है, व्यंतर का अवधिज्ञान ढोल के आकार का है, ज्योतिषी का झालर के आकार में है, वारह देवलोक में अवधिज्ञान मृंदग के आकार में है, ग्रैवेयक में फूलों से भरी हुई चंगेरी के आकार में है और अनुत्तर देवों का अवधिज्ञान कुमारी कन्या के गलके चुआ के (उर्ध्वसर कंचुक के) आकार में है । तिर्यंच और मनुष्य का अवधिज्ञान अनेक प्रकार का कहा है.

उद्धं भवण वणाणं ॥ बहुगो वेमाणियाण हो ओही ॥ नारय जोइस तिरियं ॥ नर तिरियाणं अणेगविहो ॥ १६८ ॥

भावार्थः—भुवनपति और व्यंतर इन दोनों का अवधिज्ञान ऊंचे अधिक है और तिर्च्छा कम है, वैमानिक का अवधिज्ञान नीचा अधिक है और तिर्च्छा तथा उंचा कम है, नारकी और ज्योतिषी का अवधिज्ञान तिर्च्छा अधिक है तथा उंचा नीचा कम है, और मनुष्य तिर्यंच के अवधिज्ञान अनेक प्रकार के होते हैं।

इय देवाणं भणिय ॥ ठिइ पमुहं नारयाण वुच्छामि ॥ इग तिन्नि सत्त दस सत्तर ॥ अयर बावीस तित्तीसा ॥१६६॥ सत्तय पुढवी सुठिई ॥ जिट्ठो वरिमाइ हिट्ठ पुढवीए ॥ होइ कमेण कणिट्ठा ॥ दसवास सहस्स पढमाए ॥ २०० ॥

भावार्थः—इति पूर्वोक्त प्रकार देवों के स्थिति प्रमुख नव द्वार कहे अब वेही नव द्वार नारकी के सम्बन्ध में कहते है, प्रथम सातों नरक की जघन्योंत्कृष्ट आयु स्थिति कहते हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी में एक शर्करा प्रभा में ३ वालु प्रभा में ७ पंकप्रभा

में १० धूम प्रभा १७ तमः प्रभा में २२ और सातवीं तमः तम प्रभा में ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट आयुस्थिति है। अब उपरकी नरक पृथ्वी में जितनी उत्कृष्टी आयुस्थिति होती है उतनी ही नीचे की नर्क पृथ्वी में जघन्य आयुस्थिति होती है। यथा रत्नप्रभा की उत्कृष्टी आयुस्थिति भी एक सागरोपम की है तो शर्करा-प्रभा की जघन्य आयुस्थिति भी एक सागरोपमकी जानना इसी प्रकार यावत् छट्ठी नर्क पृथ्वी की उत्कृष्ट आयुस्थिति २२ साग-रोपम की है तो सातवी नर्क में जघन्य आयु २२ सागरोपम की है और पहिली नर्कमें जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है।

अब प्रत्येक प्रतर में जघन्योत्कृष्ट आयुस्थिति कहते है।

नवइ सम सहस लक्खा॥ पुव्वाणं कोडी अयर दस भाग॥ इकिक भाग वुढ्ढी॥ जा अयरं तेरसे पयरे॥ २०१॥ इय जिठ्ठ जहराणा पुण॥ दसवास सहस्स लक्ख पयर दुगे॥ सेसेसु उवरी जिठ्ठा॥ अहो कणिठ्ठाओ पइ पुढवी॥ २०२॥

भावार्थः—रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम प्रतर निव्वे ९० हजार वर्ष, दूसरे प्रतर में ९० लाख वर्ष, तीसरे प्रतर में एक पूर्व कोडी वर्ष, चौथे प्रतर में $\frac{1}{10}$ सागरोपम. पांचवें प्रतरमें $\frac{2}{10}$ सा० छट्ठे $\frac{3}{10}$

सातवें $\frac{४}{१०}$, आठवें $\frac{५}{१०}$ नवमें $\frac{६}{१०}$ दशवें $\frac{७}{१०}$, ग्यारहवें $\frac{८}{१०}$ बारवें $\frac{९}{१०}$ और आखिरी तेरहवें प्रतर में १ सागरोपम की उत्कृष्टी आयुस्थिति जानना अब जघन्यस्थिति कहते हैं प्रथमें प्रतर में १० हजार वर्ष आगे के प्रतर में ऊपर के प्रतर की जो उत्कृष्ट स्थिति है वही उसकी जघन्य स्थिति समझ लेना.

उवरि खिइ ठिइ विसेसो ॥ सग पयर विहत्तु इत्थ संगुणिओ ॥ उवरिम खिइ ठिइ सहिओ ॥ इच्छिय पयरंमि उक्कोसा ॥२०३ ॥

भावार्थः—ऊपर की पृथ्वी जो उत्कृष्ट स्थिति है उसको इच्छित नर्क पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति में से बाद करना फिर उसको प्रतर की संख्या में हिस्सा करना जो अंक आवे उसका वांछित प्रतरके साथ गुणा करना जो अंक आवे उसमें ऊपरकी उत्कृष्ट स्थिति मिला देना इससे वांछित प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति का अंक आजावेगा.

उदाहरण—जैसे शर्कराप्रभा की उत्कृष्ट स्थिति ३ सागरोपम की है और रत्नप्रभा की एक सागरोपम की है अब बाद करने से शेष दो रहे। इन दो सागरोपम को शर्कराप्रभा के ११ प्रतर से भाग दिया जब $\frac{२}{११}$ सागर हुआ उसको वांछित प्रतर के साथ गुणा किया तो प्रथम प्रतर में तो $\frac{२}{११}$ सागर ही

रहा उसमें उपरकी रत्नप्रभा पृथ्वी की उ० स्थिति के एक सागरोपम मिलाने से १$\frac{२}{११}$ हुआ उतनी उ० स्थिति शर्कराप्रभा के प्रथम प्रतर में है इसी प्रकार प्रति प्रतर में $\frac{२}{११}$ सागरोपम बढाते जाइये जब अखिरी ग्यारहवें प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति पूरे तीन सागरोपम की होजावेगी । और प्रथम प्रतर की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उतनी ही दूसरे प्रतर की जघन्य स्थिति होती है । इसी प्रकार सातों नर्क पृथ्वी में समझ लेना ।

बंधण गइ संठाणा ॥ भेया वरणाय गंध रस फासा ॥ अगुरु लहु सद्द दसहा ॥ असुहा वियपुग्गला निरए ॥ २०४ ॥

भावार्थ—नारकी जीवों को स्वभाव से जो क्षेत्र वेदना होती है सो कहते हैं । प्रतिक्षण जो आहारादि पुद्गलों का जो बंधन है सो प्रदीप्त अग्निके सदृश अत्यंत दारुण होता हैं । ऊंट के सदृश उनकी अशुभगति होती है और चलते समय तप्त लोह के समान धरती का स्पर्श अत्यंत दुःखदायी होता है. नारकी को महाउद्वेगकारी हुंडक संस्थान होता है । भींत आदि के पुद्गल का स्पर्श उनको खड्ग की धारावत् दुःखदायी होता है । वर्ण, गंध, रस स्पर्श अगुरु लघु परिणाम और शब्द ये दस बोल बहुत ही अशुभ और अत्यंत कष्ट कारक होते हैं ।

नरया दसविह वेयण ॥ सी. ओसिण खुह पिवास कंडूहिं ॥ परवस्सं जर दाहं ॥ भय सोगं चेव वेयंति ॥ २०५ ॥

भावार्थः—नर्क में दश प्रकार की वेदना है. १ शीत, २ उष्ण, ३ क्षुधा, ४ तृष्णा, ५ खाज. (खुजली आदि), ६ पराधीनता, ७ ज्वर, ८ दाह, ९ भय और १० शोक ये दश प्रकार की अनंती वेदना नारकी के जीव वेदते है.

सत्तसु खित्तज वियणा ॥ अन्नन्न कयावि पहरणे हिविणा ॥ पहरण कयावि पंचसु ॥ तिसु परमाहम्मिय कयावि ॥ २०६ ॥

भावार्थः—सातों नर्क में क्षेत्र वेदना स्वभाव से ही अनंती होती है. अन्योऽन्य कृत वेदना दो प्रकार की है एक शरीर द्वारा और दूसरी प्रहरण द्वारा. शरीर द्वारा होती हुई अन्योऽन्य कृत वेदना पहिली पाच नर्क में है. परमाधामी कृत वेदना पहिली तीन नर्क में होती है.

रयणप्पह सक्करपह ॥ वालुयपह पंकपहय धूमपहा ॥ तमपहा तमतमपहा ॥ कमेण पुढवीण गोत्त इं ॥ २०७ ॥

भावार्थः—सात नर्क के सात गोत्र (अर्थ सहित नाम) कहते हैं. पहिली नर्क में प्रथम कांड में अनेक रत्न होने से रत्नप्रभा गोत्र, दूसरी शर्करा प्रभा वहां कंकर वहोत हैं. तीसरी वालुप्रभा में वालु अधिक है. चौथी पंकप्रभा में कादा बहुत है और सातवीं तम तमाप्रभा में अंधकार वाहुत हैं ये सातवें नर्क के गुण निष्पन्न नाम अर्थात् गोत्र कहे.

अब नर्क के नाम तथा आकार कहते हैं.

धम्मा वंसा सेला ॥ अंजण रिट्ठा मघाय माघवई ॥ नामेहिं पुढवीओ ॥ छत्ताईछत्त संठाणा ॥ २०८ ॥

भावार्थः—१ धमा, २ वंशा, ३ शेला, ४ अंजणा, ५ रिष्टा, ६ मघा, ७ माघवती ये सात नर्क के नाम कहे. ये सातों नर्क पृथ्वी छाता निचे छाता के संस्थान में स्थित हैं.

अब पृथ्वी का पिंड तथा आश्रय कहते हैं.

असीय बत्तिस अडविस ॥ वीसा अट्ठार सोल अडसहस्सा ॥ लक्खुवरि पुढवि पिंडो ॥ घणुदहि घणवाय तणुवाया ॥ २०९ ॥ गयणं च पइठाणं ॥ वीस सहस्साइं घणुदही पिंडो ॥

घण तणु वाया गासा ॥ असंख जोयण जुया पिंडो ॥ २१० ॥

भावार्थः—रत्नप्रभा का पृथ्वी पिंड एक लाख ८० हजार योजन, शर्करामभा का एक लाख ३२ हजार योजन, वालुप्रभा का १ लाख २८ हजार योजन, पंकप्रभा का १ लाख २० हजार योजन, धूमप्रभा का १ लाख १८ हजार योजन, तम प्रभा का १ लाख १६ हजार योजन और तमः तमा का १ लाख ८ हजार योजन का पृथ्वी पिंड है और प्रत्येक पृथ्वी के नीचे २० हजार योजन का घनोदधि, असंख्यात योजन का घनवात, असंख्य योजन का तनुवात, और असंख्य योजन का आकाश प्रतिष्ठित है.

नफुसंति अलोगं ॥ चउ दिसंपि पुढवीयवलय संघहिया ॥

भावार्थः—७ नर्क पृथ्वी घनोदधि, घनवात तथा तनुवात के वलय मे वेष्टित होने से अलोक को नहीं फरसती है.

रयणाए वलयाणं ॥ छद्धपंचम जोयणं स-द्धं ॥ २११ ॥ विक्खंभो घण उदही ॥ घण त-णुवाया होइ जह संखं ॥ सत्तिभाग गाऊयं ॥

गाऊयंच तह गाउय तिभागो ॥ २१२ ॥ पढम महीवलए सु ॥ खिविज्ज एयं कमेण बीयाए ॥ दुति चउपंच च्छगुणं ॥ तइयाइसु तंपि खिव-कमसो ॥ २१३ ॥

भावार्थः-रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन वलय की चौडाई इस प्रकार है घनोदधि का छः योजन की चौड़ाई, घनवात की ४॥ योजन की और तनुवात के १॥ योजन की चौड़ाई है इन तीनों को मिलने से १२ योजन हुए-पाहिली नर्क से चारों ओर १२ योजन दूरं तीर्च्छा अलोक है. आगे की नर्क पृथ्वी के घनोदधि के वलय में $1\frac{1}{3}$ गाउ बढाते जाना इस हिसाव से सातवीं नर्क का घनोदधि वलय ८ योजन का होगा. रत्नप्रभा के घनवात के वलय में १ गाउ वढाते जाना जिससे सातवीं नर्क पृथ्वी के घनवात का वलय छः योजन का होगा. और रत्नप्रभा के तनुवात के वलय में $\frac{1}{3}$ गाउ वढाते जाना जिससे सातवीं नर्क के तनुवात का वलय २ योजन का होगा. ये सब मिलकर सातवीं नर्क पृथ्वी से १६ योजन दूर अलोक है.

मज्झे च्चिय पुढविअहे ॥ घणुदहि पमुहाण पिंडपरिमाणं ॥ भणियंतओ कमेणं ॥ हायइ जा

वलय परिमाणं ॥ २१४ ॥

भावार्थः–" वीस सहस्साइं घणुदहि पिंडो " इस पाठका अर्थ नर्क पृथ्वी के नीचे मध्य भाग में घनोदधि प्रमुख का पिंड परिमाण कहा है उसमें से चारों ओर क्रमशः कमी होते होते अंतमें उपर कहे अनुसार वलय रह जाता है.

तीस पणवीस पनरस ॥ दसतिन्नि पणरण एग लक्खाइं ॥ पंचय नरया कमसो ॥ चुलसी लक्खाइं सत्तसुवि ॥ २१५ ॥

भावार्थः–पहिली नर्क में ३० लाख नरकावास है, दूसरी में २५ लाख, तीसरी में १५ लाख, चौथी में दस लाख, पांचवीं में ३ लाख, छट्ठी में पांच कम एक लाख और सातवीं में पांच नरकावासा है. सर्व मिलकर ८४ लाख नरकावासा है.

अथ प्रतर संख्या कहते हैं.

तेरिक्कारस नव सग ॥ पण तिन्निग पयर सव्विगुणवन्ना ॥ सीमंताई अप्पइ ॥ ठाणंता इंदयमाज्झं ॥ २१६ ॥

भावार्थः–पहिली नर्क में १३ दूसरी में ११, तीसरी में ९, चौथी में ७, पांचवीं में ५, छट्ठी में ३, और सातवीं में एक

प्रतर है ये सब मिलकर ४९ प्रतर हुए. इन प्रत्येक प्रतर के मध्य भाग में ४५ इंद्रक (बड़े) नरकावास हैं. प्रथम प्रतर में सीमंत और आखिरी प्रतर में अपइठाण-नामक नरकावास है.

अब श्रेणीगत नरकावास कहते हैं.

तेहिंतो दिसिं विदिसिं॥ विणिग्गया अट्ठनिरय आवलिया ॥ पढमे पयरे दिसिगुण ॥ वन्न वि- दिसासु अडयाला ॥ २१७ ॥ वीया इसु पयरेसु इग इग हीणाउ हुंति पंतीओ ॥ जा सत्तमि मइ पयरे ॥ दिसि इक्किको विदिसि नात्थि ॥२१८॥

भावार्थः—उन नर्क में इंद्रक नरकावास से चार दिशि और चार विदिशि में इस भांति आठ पंक्ति हैं. प्रथम प्रतर में प्रत्येक दिशि में ४९ और प्रत्येक विदिशि में ४८ नरकावास है इस के नीचे के जो प्रतर हैं उनमें क्रमशः एक २ कम नरकावास है यावत् सातवीं नर्क में (४९ वें प्रतर में) दिशि में तो एक २ प्रतर हैं मगर विदिशि में एक भी नहीं है.

इठ्ठपयरेग दिसि॥ संख अढगुणा चउविण सइगसंखा ॥ जह सीमंतय पयरे ॥ एगुणनउया

सया तिन्नि ॥ २१६ ॥ अपयठाणे पंचउ ॥ पढमो मुहमंतिमो हवइ भूमी ॥ मुहभूमि समासद्धं ॥ पयर गुणं होइ सव्वधणं ॥ २२० ॥

भावार्थः—इच्छित प्रतर की एक दिशि के नरकावास को (आठ पंक्ति होने से) आठ गुणा करे फिर उन में से चार कम करे (क्योंकि विदिश में एक एक कम है) पुनः उनमें एक इंद्रक मिलाइये इस तरह करने से एक प्रतर के नरकावास की संख्या विदित होगी. प्रथम सीमंत प्रतर में एक दिशि में ४९ नरकवासा है उसको ८ गुणा किया जब ३९२ हुआ उस में से चार कम किया जब ३८८ रहा फिर उसमें एक मिलाय तब ३८९ हुआ इतने पंक्ति गत नरकावास प्रथम प्रतर में हैं.

अब सीमंत के ३८९ का जो अंक आया उसको तो मुख कहीए और अंतिम प्रतर के जो ५ नरकावास है उनको भूमि कहीए उन दोनों समास ३९४ और उसका अर्द्ध १९७ हुआ उसका ४९ प्रतर से गुणा किया जब ९६५३ हुआ. इतने सातों नर्क के मिलकर पंक्ति गत नरकावास है. शेष ८३९० ३४७ नरकावास पुष्पावकीर्ण है.

छण्णा वइसय तिवण्णा ॥ सत्तसुपुढवीसु

आवली निरया ॥ सेस तियासीलक्खा ॥ तिसय सियाला नवइ सहसा ॥ २२१ ॥

भावार्थः—सातों नर्क के आवलिकागत (पंक्तिगत) नरकावास ९६५३ है और पुष्पावकीर्ण नरकावास ८३९०३४७ है दोनों मिलकर ८४ लाख हुये.

तिसहस्सुच्चा सव्वे ॥ संखमसंखिज्ज वित्थडायमा ॥ पणयाल लक्ख सीमं ॥ तल्लोय लक्खं अपइट्ठाणो ॥ २२२ ॥

भावार्थः—समस्त नरकावास ३००० योजन के ऊंचे हैं और विस्तार में कई संख्याते और कई असंख्याते योजन के हैं. सीमन्त नामक प्रथम नरकावास ४५ लाख योजन का लम्बा चौड़ा है और अपइठाण नामक अन्तिम नरकावास एक लाख योजन का लम्बा चोड़ा है.

छसु हिट्ठोवरि जोयण ॥ सहस्स बावन्न सढ्ढ चरिमाए ॥ पुढवीए नरय रहियं ॥ नरया सेसंमि सव्वासु ॥ २२३ ॥

भावार्थः—पहिली छ नरक पृथ्वी में ऊपर नीचे एक -एक

हजार योजन क्षेत्र नरकावास से रहित है और आखिरी सातवीं नर्क में ५२॥ हजार योजन ऊपर व ५२॥ हजार योजन नीचे इतना क्षेत्र नरकावास से रहित जानना शेष समस्त नर्क पृथ्वी में नरकावास हैं.

विसहस्सूणा पुढवी॥ तिसहस गुणिएहिंनियय पयरेहिं॥ ऊणा रूवुण निय पयर॥ भाइया पत्थडंतरयं २२४॥

भावार्थः—पहिली नर्क पृथ्वी के पिंडमें से दो हजार योजन कमी करें (एक हजार उपरके व एकहजार नीचे के) बाद जिस पृथ्वी में जितने प्रतर होवे उतने प्रतर तीन हजार गुणा पृथ्वी पिंड कमती करें तत्पश्चात् अपने २ प्रतरमें से एक कमती करके (क्योंकि प्रतर से अंतर एक कम होते हैं) उतने से भागदेवे जो अंक उपलब्ध होवे उतना अंतर एक प्रतर से दूसरे प्रतर तक समझना जैसे रत्नप्रभा का पिंड १८०००० योजन का है उन में से २००० बाद किये शेष १७८००० योजन रहे अब इसमें ३००० योजन के तेरह प्रतर हैं अतः १३ को ३००० गुणा किया जब ३९००० योजन हुये सो १७८००० में से बाद किये शेष १३९००० योजन रहे अब तेरह प्रतर के बिचमें अंतर बार हैं इसवास्ते उसको १२ से भागदिया जब ११५८३$\frac{1}{3}$

योजन का अंतर रत्नप्रभा के एक प्रतर से दूसरे प्रतर के बिचमें हैं. इसी भांति छे नर्क में गिनती कर लीजिये.

पउणट्ठ धणु छ अंगुल ॥ रयणा ए देहमाणमु-
कोसं ॥ सेसासु दुगुण दुगुणं ॥ पण धणुमय
जावचरमाए ॥ २२५ ॥

भावार्थः—रत्नप्रभा में उत्कृष्ट देहमान ७¾ धनुष्य छ अंगुल का हे, शेष नर्कमें इससे क्रमशः दुगुणा करते जाइये यावत् सातवीं नर्क में ५०० धनुष्य का उत्कृष्ट देहमान है.

रयणाय पढम पयरे हत्थातिय देहमाण मणुप-
यरं॥छप्पणंगुल सड्ढा वुड्ढीजा तेरसे पुणणं२२६

भावार्थः—रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर में ३ हाथका उत्कृष्ट देहमान है फिर प्रत्येक प्रतर में दो हाथ ८॥ अंगुल की वृद्धि करते जाइये यावत् १३ वें प्रतर में ७॥। धनुष्य ६ अंगुल का देहमान है.

जंदेह प्रमाणं उवरिरि ॥ माए पुढवीइ अंतिमे
पयरे ॥ तंचिय हिट्ठिम पुढवी ॥ पढमं पयरंमि
बोधव्वं ॥ २२७ ॥ तंत्रे गूणग सग पयर ॥ भइयं

चीयाइ पयर वुद्दिढभवे ॥ तिकर तिअंगुल कर-
सत ॥ अंगूला सद्दिढ गुणवीसं ॥ २२८ ॥ पण
घणु अंगुल वीसं ॥ पनरस घणु दूणि हत्थ सड्-
ढाय ॥ वासठ्ठि धणु हसड्ढा ॥ पण पुढवी
पयर वुद्दिढ इमा ॥ २२९ ॥

भावार्थः—जो देहमान उपर की नर्क पृथ्वी के अंतिम प्रतर का है वही देहमान नीचे की नर्क पृथ्वी के प्रथम प्रतर का जानना पुनः शर्करादि के प्रथम प्रतरमें जो देहमान आवे उससे एक कमती अपने २ प्रतरमें भाग दीजिये जो आंक उपलब्ध होवे. उतनी शर्करादिक पृथ्वी के दूसरे आदि प्रतर में वृद्धि होवे. यह वृद्धि छट्टी नर्क तक अनुक्रम से जानना. शर्करा के प्रथम प्रतर में ७॥ धनुष्य छ अंगुल का देहमान है उनमें तीन हाथ तीन अंगुल मिलाइये। तीसरी नर्क के प्रथम-प्रतर में १५॥ धनुष्य १२ अंगुल का देहमान है उसमे ७ हाथ १९॥ अंगुल प्रक्षेप करे (मिलावे) चौथी नर्क के प्रथम प्रतर ३१। धनुष्यका देहमान है उसमें पांच धनुष्य २० अंगुल मिलावें. पांचवीं नर्क के प्रथम प्रतर में ६२॥ धनुष्य देहमान है उसमें १५ धनुष्य और २॥ हाथ मिलावे. छट्टी नर्क के पहिले प्रतर में १२५ धनुष्यका देहमान है उसमें ६२॥ धनुष्य मिलावे पांचों पृथ्वी में इसी प्रकार

वृद्धि करना. और सातवी नर्कमें प्रतर एकही है अतः वहां प्रतर गत वृद्धि न होवे.

इय साहाविय देहो ॥ उत्तर वेउविओय तदुगुणो ॥ दुविहोवि जहन्न कमा ॥ अंगूल असंख संखंसो ॥ २३० ॥

भावार्थः--इति पूर्वोक्त प्रकार सातों नर्क में स्वभाविक देह (भवधारणीय शरीर) का मान कहा. उस देहमान से दुगुणा देहमान उत्तरवैक्रिय शरीर का जानना. अब दो प्रकार के जघन्य देहमान भी कहते हैं भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना सातों नर्क में अंगुल के असंख्यातवें भाग की तथा उत्तर वैक्रिय की जघन्य अवगाहना सातों नर्क में अंगुल के संख्यातवें भाग की है.

सत्तसु चउवीसमुह ॥ सग पनर दिणेग दु चउ छम्मासा ॥ उववाय चवण विरहो ॥ ओहे बारस मुहुत्त गुरू ॥ १२१ ॥ लहुओ दुहावि समओ संखापुण सुरसमा मुणेयव्वा ॥ संखा उ पजत्त पणिंदि ॥ तिरिनरा जंति निरएसु ॥ २३२ ॥

भावार्थः—सातों नर्क में प्रायः निरंतर नारकी उपजते और चवते हैं परंतु कभी २ विरह पडे तो जघन्य एक समय का विरह पडे और उत्कृष्ट सातों नर्क में सामान्य पणे १२ मुहूर्त का विरह पडे इसके बाद ७ में से किसी भी नर्क में कोई भी जीव अवश्य उत्पन्न होवें अथवा चवे.

अब पृथक् २ उपपात चवन विरह काल कहते हैं—रत्न प्रभा में २४ मुहूर्त शर्करा प्रभा में ७ दिन वालुका में १५ दिन, पंकप्रभा में १ मास, धूम प्रभा में दो मास, तम प्रभा में चार मास, और तमस्तमा में छ मास, उपपात चवन विरहकाल जानना. नारकी के उपपात और चवन की संख्या देवता के अनुसार जानना. जैसे देवता एक समय में एक, दो, तीन संख्याता और असंख्याता उपजे और चवे वैसे ही नारकी के विषय में भी समझ लेना. संख्याता आयुष्य वाले पर्याप्त पंचेंद्रि तिर्यंच तथा पंचेन्द्रि मनुष्य जो नरकायु बांधता है वही नर्क में जा कर उत्पन्न होता है. दूसरे जीव नरकायु नहीं बांधते हैं और नर्क में नहीं उपजते हैं.

मिच्छादिट्ठि महारंभ ॥ परिग्गहो तिव्वकोह नि-
स्सीलो ॥ नरयाउयनिबंधइ ॥ पावमई रुद्दपरि-
णामो ॥ २३३ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्वी, महारंभी, परिग्रही, तीव्र क्रोधी निःशील, पापरुची, और रौद्र परिणामी ऐसे जीव नरकायु बांधकर नर्क में उत्पन्न होता है.

असन्नि सरिसिव परकी ॥ ससीह उरगिं त्थि जंति जाछट्ठिं ॥ कमसो उक्कोसेणं ॥ सत्तम पुढवी मणुय मच्छा ॥ २३४ ॥

भावार्थः—असंज्ञी समूर्च्छित पंचेन्द्रि पर्याप्ता तिर्यंच यदि नरकायु बांधे तो पहिली नर्क तक जावे. भुजपरिसर्प, गोह, नोलादिक गर्भज प्रमुख दूसरी नर्क तक उपजे, पत्ती मांसाहारी गृद्ध, सींचाणा, समली, और नीलचास प्रमुख रौद्र अध्यव साय वाले पत्ती तीसरी नर्क तक जावे. सिंह प्रमुख हिंसक जीव चीतरा, कुत्ता, बिल्ली प्रमुख चौथी नर्क तक जावे. उरपरि सर्प पांचवी नर्क तक जावे. स्त्री वेद में नरकायु बांधने वाले स्त्री रत्न प्रमुख छठी नरक तक जावे. और गर्भज पर्याप्ते, मनुष्य और मछली सांतवी नर्क तक जावे.

वाला दाढी पक्खी ॥ जलयर नरगा गयाउ अइक्रूरा ॥ जंति पुणो नरएसु ॥ बाहुल्लेणं नउण नियमो ॥ २३५ ॥

भावार्थः-व्याल (सर्पादिक) दाढ वाले (सिंहप्रमुख) पक्षी (गृद्ध प्रमुख) जलचर (मत्स्यादिक) इन जातियों के जीव प्रायः (अकसर कर) नर्क गति में से आते हैं और अत्यंत क्रूरअध्यवसायसे पुनः नर्क में जाते हैं यह बात बाहुल्यता से कही गई है मगर ऐसा ही नियम नहीं है क्योंकि उन जाति में से कोई २ जीव शुभ अध्यवसायसे सम्यक्त्व पाकर देवगति में भी जाते हैं.

दो पढमे पुढवि गमणं ॥ छेवठे कीलियाइ संघयणे ॥ इकिक पुढवि वुड्ढी ॥ आइतिलेस्साउ नरएसु ॥ २३६ ॥

भावार्थः-छेवट्टा संघयण वाले जीव पहिली दो नर्क तक जावे कीलिका संघयणी तीसरी तक जावे. अर्ध नाराच वाले पांचवीं तक जावे, ऋषभनाराच छठी तक जावे और वज्र ऋषभनाराच सातवीं नर्क तक जावे. यह उत्कृष्ट गति कही. नर्को में पहिली तीन लेश्या (कृष्ण, नील, कापोत) हैं.

दुसुकाऊ तइयाए ॥ काऊनीलाय, नील पंकाए धूमाय नील किराहा ॥ दुसु किराहा हुंति लेस्साओ ॥ २३७ ॥

भावार्थः—पहिली दो नर्क में कापोत लेश्या है, तीसरी नर्क में कापोत और नील ये दो लेश्या है, चौथी नर्क में नील लेश्या है, पांचवीं में नील और कृष्ण ये दो लेश्या है, और छठी सातवीं नर्क में कृष्ण लेश्या है.

सुर नारयाण ताओ ॥ दव्वलेसा अव्वठ्ठिया भणिया ॥ भावपरा वत्तीए ॥ पुण एसिं हुंति छ लेस्सा ॥ २३८ ॥

भावार्थः—सुर यानि सौधर्मादिक देवलोक के देवों को तेजु, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्या कही और नारकी में कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्या कही सो अवस्थित यानि क्षेत्र की अपेक्षा से द्रव्य लेश्या आगम में कही है. ये लेश्या द्रव्य अवस्थित जानना परन्तु बाह्य वर्ण रूप नहीं समझना क्योंकि भाव के परिवर्तन से परिणाम के विपर्यास से भाव की अपेक्षा से छहों लेश्या देवता और नारकी के होती हैं.

निरउ वट्टा गप्भय ॥ पजत्त संखा उलद्धिए एसिं ॥ चक्कि हरि जुअल अरिहा ॥ जिण जइ दिसि सम्म पुहवि कम्मा ॥ २३९ ॥

भावार्थः—नर्क में से निकल कर गर्भज होवे परन्तु समू-

र्च्छिम न होवे, पर्याप्ता होवे पर अपर्याप्ता न होवे, संख्याता वर्ष की आयु पावे परन्तु युगलिया में न उत्पन्न होवे. अब नारकी में निकल कर जहांतक लाभ पावे सो कहते है. रत्नप्रभा के निकले हुए चक्रवर्ति होवें, दूसरी में से निकले हुए वासुदेव बल्देव होवें, तीसरी मे से निकले हुए तीर्थंकर होवें, चौथी में से निकले हुए सामान्य केवली होवें, पांचवीं में से निकले हुए सर्व विरति साधु होवें, छठी में से निकले हुए देश विरति (श्रावक) होवें, सातवीं में से निकले हुए सम्यक्त्व पावे ये उपरोक्त पदवियां नारकी में से निकले हुए जीवों के लिये पानी संभवित हैं मगर सर्व नारकी जीव पावे ऐसा नियम नहीं है.

रयणाए ओहि गाउअ ॥ चत्तारि अद्धुट्ठ गुरु-लहु कमेण ॥ पइ पुढवि गाउ यद्धं ॥ हायइ जा सत्तमि इगद्धं ॥ २४० ॥

भावार्थः—रत्नप्रभा में उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र चार गाउ और जघन्य ३॥ गाउ है, दूसरी में उ० ३॥ गाउ और ज० ३ गाउ ज० २॥ गाउ, चौथी में उ० २॥ और ज० २ गाउ, पांचवीं में उ० २ ज० १॥ गाउ छठी में उ० १॥ और ज० १ गाउ तथा सातवीं में उ० १ गाउ तथा जघन्य आधा गाउ का

अवधिक्षेत्र है यानि नारकी जीव अवधिज्ञान से इतना क्षेत्र चारों और देख सकता है.

इति नरक द्वार समाप्त.

अब मनुष्य द्वार कहते हुए प्रथम स्थिति और अवगाहना द्वार कहते हैं.

गप्भ नर ति पलियाऊ ॥ तिगाउ उक्कोस ते जहन्नेणं ॥ मुच्छिम दुहावि अंत मुहु ॥ अंगुल असंख भाग तणू ॥ २४१ ॥

भावार्थः—मनुष्य के दो प्रकार हैं गर्भज व समूर्च्छिम उन में गर्भज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की व उत्कृष्ट अवगाहना तीन गाउ की है तथा उन दोनों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की है तथा दोनों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असख्यातवें भाग की है.

बारस मुहुत्त गप्भे ॥ इयरे चउवीस विरहउक्कोसो ॥ जम्म मरणे सुसमओ ॥ जहणण संखा सुरसमाणा ॥ २४२ ॥

भावार्थः—गर्भज मनुष्य में जन्म आश्रयी तथा मृत्यु आश्रयी उत्कृष्ट विरहकाल बारह मुहूर्त है और समूर्च्छिम मनुष्य में

उत्कृष्ट २४ मुहूर्त का विरहकाल है तथा जघन्य विरहकाल दोनों में एक समय का है. देवों की भांति मनुष्य गति में भी एक समय में एक, दो, तीन यावत् संख्याता तथा असंख्याता मनुष्य उपजे और मृत्यु पावे. मगर गर्भज मनुष्य उत्कृष्ट काल में २९ अंक पर्यंत संख्याता होवे और गर्भज तथा समूर्च्छिम दोनों की अपेक्षा से असंख्याता पर्यंत जानना.

अब कौन जीव मरकर मनुष्यगति में आवे सो कहते हैं.

सत्तमि महि नेरइए ॥ तेऊ वाऊ असंख नर-तिरिए ॥ मुत्तूण सेस जीवा ॥ उप्पज्जंती नर-भवंमि ॥ २४३ ॥

सातवीं नर्क पृथ्वी के नारकी, तेऊकाय, वाऊकाय तथा असंख्याता आयुष्य वाले मनुष्य तिर्यंच (युगलिक) इनको छोड़कर शेष सर्व जीव मनुष्य गतिमें उत्पन्न हो सकते हैं।

सुर नेरइएहिं चिय ॥ हवंति हरि अरिह चक्कि वलदेवा ॥ चउविह सुर चक्किवला ॥ वेमाणिय हुंति हरि अरिहा ॥ २४४ ॥

भावार्थः—वासुदेव, अरिहंत, चक्रवर्ति तथा बलदेव ये चारों श्लाघ्य पुरुष देवता और नारकी इन दो गतिमें से ही आते

है पर मनुष्य तिर्यंच गतिमें से नहीं आते हैं। तथा चारों नि-काय के देवों में से निकले हुए चक्रवर्ति और बलदेव होसकते है. परंतु अरिहंत तथा वासुदेव तो सिर्फ वैमानिक देवगति में से निकले हुए ही होसकते हैं।

हरिणो मणुस्स रयणाइ ॥ हुंति नाणुत्तरेहिं दे-वेहिं ॥ जह संभवं सुववाओ ॥ हयगय एगिंदि रयणाणं ॥ २४५ ॥

भावार्थः—अब वैमानिक में जो विशेषता है सो दिखाते हैं। वासुदेव, तथा चक्रवर्त्ति के पांच मनुष्य रत्न, (१ पुरो-हित, २ सेनापति, ३ गाथापति, ४ वार्द्धिक (सूत्रधार-खाती), ५ स्त्री रत्न) ये छः पदवी में अनुत्तर विमान के देव नहीं उप-जते हैं। तथा हाथी व अश्व ये दो रत्न तथा सात एकेन्द्रिय रत्न (चक्र, छत्रादि) ये चक्रवर्त्ति के शेष नवरत्न में यथा संभव आगति जान लेना.

अब इन रत्नों के नाम व प्रमाण कहते हैं.

वाम पमाणं चक्कं ॥ छत्तं दंड दुहत्थयं चम्मं ॥ बत्तीसंगुल खग्गो ॥ सुवण्ण कागिणि चउरंगु-लिया ॥ २४६ ॥ चउरंगुलो दुअंगुलापिहुलो य

मणी पुरोहि गय तुरया ॥ सेणावइ गाहावइ ॥
वद्धइ इत्थी चक्कि रयणाइं ॥ २४७ ॥

भावार्थ.—चक्र. छत्र और दंड ये तीन रत्न वाम प्रमाण होते हैं (दोनों हाथ दोनों तरफ पसारने से वाम होती है) चर्म रत्न दो हाथ का होता है और खड्ग रत्न ३२ अंगुल का लम्बा होता है। सुवर्णमय कांगिणी रत्न चार अंगुल का लम्बा और दो अंगुल का चौडा होता है। ये सातों एकेन्द्रि रत्न चक्रवर्त्ति के आत्मांगुल प्रमाण जानना। और पुरोहितादिक जो सात पंचेन्द्रिय रत्न हैं वे जिस काल में जितना पुरुष शरीर का प्रमाण होता है उतने ही वड़े होते हैं.

अब वासुदेव के ७ रत्न कहते हैं:—

चक्कं धणुहं खग्गो ॥ मणी गया तहय होइ वणमाला ॥ संखो सत्त इमाइं ॥ रयणाइं वासुदेवस्स ॥ २४८ ॥

भावार्थ:—१ चक्र, २ धनुष्य, ३ खड्ग, ४ मणी, ५ गदा ६ वनमाला और सातवां शंख ये सात रत्न वासुदेव के होते हैं.

अब मनुष्य मरकर स्वभाव में कहां तक उत्पन्न होते हैं.

संख नरा चउसु गईसु ॥ जंति पंचसुवि पढम

संघयणे ॥ इग दुतिजा अठ्ठसयं ॥ इगसमए जंति ते सिद्धिं ॥ २४६ ॥

भावार्थः—संख्याता आयुष्य वाले मनुष्य (स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक) वे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवता इन चारों गति में जावें और प्रथम संघयण वाले मनुष्य मोक्ष गति में भी जा सकते हैं. एक समय में एक, दो, तीन यावत् १०८ मनुष्य सिद्ध हो सकते हैं.

अब तीन वेद आश्रयी सिद्ध गति कहते हैं.

वीसित्थि दस नपुंसग ॥ पुरिसट्ठ सयं तु एगसमएणं ॥ सिज्जइ गिहिअन्न सलिंग ॥ चउदस अट्ठाहिय सयंच ॥ २५० ॥

भावार्थः—एक समय में उत्कृष्ट स्त्री वेदी २० मोक्ष में जा सके, नपुंसक वेदी १० जा सके और पुरुष वेदी एक समय में १०८ मोक्ष में जासके, अन्य लिंगी तापसादिक एक समय में १० मोक्ष में जासके और स्वलिंगी (साधु के वेष में) एक समय में १०८ मोक्ष में जासके.

गुरुलहु मज्झिम दो चउ ॥ अठ्ठसयं उड्ढहो तिरिय लोए ॥ चउ बावीसडऽठ्ठ सयं ॥ दुसमुद्दे तिन्नि सेसजले ॥ २५१ ॥

भावार्थः—उत्कृष्ट अवगाहना वाले यानि ५०० धनुष्य के शरीर वाले एक समय में उत्कृष्ट दो जावें. जघन्य अवगाहना वाले यानि दो हाथ के शरीर वाले उत्कृष्ट एक समय में चार मोक्ष में जावे और मध्यम अवगाहना के एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष में जावें. उर्ध्वलोक में एक समय में उत्कृष्ट चार मोक्ष में जावे. अधोलोक में २२ मोक्ष में जावें और तिर्यक् लोक में १०८ मोक्ष में जावें. एक समय में समुद्र में से दो मोक्ष जावे शेष पानी नदी, द्रह आदि में से तीन मोक्ष मे जावें.

यहां उर्ध्वलोक मेरुचूलिका और नंदनवन तक जानना और अधोलोक अधोग्राम के आश्रयी जानना.

अब चारों गति मे से आये हुए कितने २ मोक्ष में जावें सो कहते हैं.

नरय तिरिया गयादस ॥ नरदेव गईउ वीस अट्ठसयं ॥ दस रयणा सक्कर वालुयाउ चउ पंक भू दगओ ॥ २५२ ॥ छच्च वणस्सइ दसतिरि ॥ तिरित्थि दस मणुय वीस नारीओ ॥ असुराइ वंतरा दस ॥ पण तद्देवीउ पत्तेयं ॥ २५३ ॥ जोइ दस देवि वीसं ॥ विमाणिय हसय वीस देवीओ ॥

भावार्थः-नर्क गति में से निकल कर मनुष्य गति में आये हुए एक समय में दश सीजे, तिर्यंच गति में से आये हुए भी १० सीजे, मनुष्य गति में से आये हुए २० सीजे और देवगति में से आये हुए १०८ सीजे.

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुका प्रभा में से आये हुए प्रत्येक में दस दस दस सीजे, पंकप्रभा से आये हुए चार सीजे धूमादिक से आये हुए सीजे नहीं. पृथ्वीकाय में से आये हुए चार सीजे, वनस्पतिकाय में से आये हुए छः सीजे, तिर्यंच पंचेन्द्रि में से आये हुए दश सीजे, तिर्यंच स्त्री में से आये हुए भी दश सीजे, मनुष्य नर से आये हुए १० सीजे तथा मनुष्य स्त्री से आये हुए बीश सीजे।

असुरादिक दश निकाय में से आये हुए दश सीजे, व्यंतरगति में से आये हुए भी दश सीजे, असुरकुमारादि दश निकाय की देवी में से आये हुए पांच सीजे वैसे ही समस्त व्यंतर-देवीमें से आये हुए भी पांच सीजे, ये देवी का बोल प्रत्येक में अलग २ पांच जानना। ज्योतिषी पुरुष में से आये हुए १० सीजे, ज्योतिषी स्त्री में से आये हुए २० सीजे वैमानिक देवमें से आये हुए १०८ सीजे, वैमानिक स्त्री में से आये हुए २० सीजे यहां सर्वत्र एक समय जानना. सिद्ध प्राभृत में देव, नारक, तिर्यंच व मनुष्य इन चारों गतिमें से

प्रत्येक के निकले दश२ सीजे ऐसा कहा हुआ है तत्व केवली गम्य.

अब वेद आश्रयी सिद्धि और सिद्धगतिमें उपपात विरहकाल कहते हैं.

तह पुव्वे एहिंतो ॥ पुरिसो होऊण अट्ठ सयं ॥ २५४ ॥ सेसट्ठ भंगएसु ॥ दस दस सिज्झंति एग समएण ॥ विरहो छमास गुरुओ लहु समओ चवण मिह नत्थि ॥ २५५ ॥

भावार्थः—पुरुषवेदी देव, मनुष्य तथा तिर्यंच गति में से निकल कर कोई जीव पुरुष होवे, कोई स्त्री होवे और कोई नपुंसक होवे, वैसेही नपुंसक वेदी नारकी प्रमुख में से निकल कर कोई नपुंसक होवे, कोई स्त्री होवे और कोई पुरुष होवे, वैसेही स्त्री वेदी देवी प्रमुख में से निकल कर कोई स्त्री कोई पुरुष या कोई नपुसक होवे इस प्रकार नव भंग (विकल्प) हुए, उनमें से पुरुष वेद में से आये हुए पुरुष वेदी उत्कृष्ट से एक समय में १०८ सीजे शेष ८ भंग में से प्रत्येक में एक समय में उत्कृष्ट १० सीजे.

मोक्षगति में उत्पन्न होने का उत्कृष्ट विरहकाल छ महिने का है और जघन्य विरहकाल एक समय का है. सिद्धगति में चवन है ही नहीं उनकी स्थिति एक सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनन्त और सर्व सिद्ध की अपेक्षा से अनादि अनन्त है.

अड सग छ पंच चउ तिन्नि दुन्नि इक्कोय सिज्जमाणेसु ॥ बत्तीसाइ सुसमया ॥ निरंतरं अंतर उवरिं ॥ २५६ ॥ बतीसी अडयाला ॥ सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा ॥ चुलसीई छण्णवइ ॥ दुरहिय मट्ठुत्तर सयं च ॥ २५७ ॥

भावार्थः—आठ, सात, छ, पांच, चार, तीन, दो और एक समय में सीजते हुए बत्तीस आदि निरन्तर सीजे इसके बाद अन्तर पड़े एक से लेकर बत्तीस पर्यंत निरन्तर सीजे तो उत्कृष्ट आठ समय तक सीजे यानि प्रथम समय में एक दो, तीन यावत् बत्तीस सीजे, दूसरे समय मे भी एक, दो, तीन यावत् बत्तीस सीजे इस भांति लगातार आठ समय तक सीझे मगर आठ समय के बाद एकादि समय का अन्तर पड़े. और जब तेत्तीस लेकर ४८ तक एक समय मे सीजे तब उत्कृष्टा ७ समय तक निरन्तर सीजे इस बाद अन्तर पड़, और जब ४९ से लेकर ६० पर्यंत एक समय में सीजे तब छ समय तक निरन्तर सीजे बाद में अन्तर पड़े जब ६१ से ७२ पर्यंत सीजे तब पांच समय तक निरन्तर सीजे, ७३ से ८४ तक एक समय में सीजे तब चार समय तक निरंतर सीजे, ८५ से ९६ तक सीजे तब तीन समय तक निरंतर सीजे, ९७ से १०२ तक

सीजे तब दो समय तक निरंतर सीजे बाद में अंतर पड़े और जब एक समय में १०३ से १०८ तक सीजे तब दूसरे समय में अंतर अवश्य पड़े.

अब सिद्ध क्षेत्र की वक्तव्यता करते हैं.

पणयाल लक्ख जोयण ॥ विक्खंभा सिद्ध-सिल फलिह विमला ॥ तदुवरि गजोयणंते ॥ लोगंतो तत्थ सिद्धठई ॥ २५८ ॥

भावार्थः—सर्वार्थ सिद्ध विमान ध्वजा से १२ योज उंचे सिद्ध शिला है वह शिद्ध शिला ४५ लाख योजन की लंबी चौंडी गोलाकार है श्वेत अर्जुन सुवर्णमय स्फाटिक की माफिक निर्मल है इसके उपर एक योजन दूर लोकांत है वहांपर सिद्ध की स्थिति है यानि सिद्ध वहांपर स्थित है. सिद्ध शिला और उर्ध्व आलोक के बीच जो एक योजन का खाली प्रदेश है उस योजन से उपर के ३३३$\frac{1}{3}$ धनुष्य में सिद्ध भगवंत रहे हुए हैं.

इति मनुष्यद्वार समाप्त ।

अब तिर्यंच द्वार कहते हुए प्रथम स्थिति द्वार कहते ।

बावीस सगति दस वास ॥ सहस गिणिति दिण

बेइंदियाई सुग बारस वासुण पण दिण ॥ छम्मास तिपलिय ठिइ जिट्ठा ॥ २५६ ॥

भावार्थः-पृथ्वी कायकी उत्कृष्ट स्थिति २२ हजार वर्ष की, अपकाय की ७ हजार वर्षकी, तेउकाय की ३ दिनकी, वाउकाय की तीन हजार वर्ष की और वनस्पति कायकी उत्कृष्ट स्थिति १० हजार वर्षकी. बेइंद्रिय की उ० स्थिति १२ वर्षकी तेंद्रिय की ४९ दिन की और चौरेंद्रि की उत्कृष्ट स्थिति ६ महिने की पंचेंद्रि की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है यह उत्कृष्ट स्थिति निरुपद्रव स्थानक में रहते हुए जानना. और जघन्य स्थिति तो इन सबकी अंतर्मुहूर्त की जानना.

अब पृथ्वी कायके भेद कहते हैं।

सण्हाय सुद्ध वालुय ॥ मणोसिला सक्करायखर पुढवी ॥ इग बार चउद सोलस ॥ ठारस बावीस सम सहस्सा ॥ २६० ॥

भावार्थः-सुंहाली मिट्टी की उत्कृष्ट आयु एक वर्षकी, शुद्ध यानि गोपीचंदन आदि की १२ हजार वर्षकी, वालु की आयु १४ हजार वर्षकी, मनसील की १६ हजार वर्षकी, शर्करा, हरताल आदि की आयु १८ हजार वर्ष की, और खर पृथ्वी

सीला, पाषाण, रत्न आदि की आयु २२ वर्ष की ये प्रमाण उत्कृष्ट आयुका समझना ।

गप्भ भुय जलयरो भय ॥ गप्भोरग पुव्व कोडि उक्कोसा ॥ गप्भ चउप्पय पक्खिसु ॥ तिपलिय पलिया असंखंसो ॥ २६१ ॥

भावार्थः—गर्भज भुजपरि सर्प्प—गोह नकुल आदिक तथा जलचर—मृत्स्यादिक ये दो प्रकारके हैं एक गर्भज उरपरि सर्प इनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोडी वर्षकी जानना गर्भज चतुष्पद गाय, महिषी, ऊंट, हाथी घोडे आदि की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की है. गर्भज पक्षी सारस, मोर, चीड़ियां, प्रमुख की उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असंख्यात वें भागकी ही है.

अब पुर्वका मान कहते हैं ।

पुवस्स उपरिमाणं ॥ सय्यरि खलु वास कोडि लक्खाओ ॥ छप्पन्नं च सहस्सा ॥ बोधव्वा वास कोडीणं ॥ २६२ ॥

भावार्थः—८४ लाख वर्षका एक पूर्वांग होवे और ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व होवे दोनों का गुणा करने से एक पूर्वके

वर्षकी संख्या सीतर लाख कोडी वर्षपर छप्पन हजार कोडी वर्ष हुई यानि एक पूर्व के ७०५६०००००००००० वर्ष होते हैं.

संम्मुच्छि पणिंदि थलखयर ॥ उरग भूयग जिट्ठ ठिइ कमसो ॥ वास सहस्सा चुलसी ॥ बि-सत्तरि तिपएण वायाला ॥ २६३ ॥

भावार्थः—सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रि "स्थलचर"—गाय, महिषी प्रमुख, "खेचर" पक्षी बगला प्रमुख, "उरपरि सर्प्प" अजगर प्रमुख तथा भुज परिसर्प्प-गोह नोलिया प्रमुख जो सम्मुर्च्छिम जीव हैं उनकी उत्कृष्ट आयुस्थिति अनुक्रम से ८४ हजार ७२ हजार वर्ष, ५३ हजार, और ४२ हजार वर्ष की जानना. अर्थात् सम्मूर्च्छिम गाय प्रमुख की उत्कृष्टायु ८४००० वर्ष, सम्मूर्च्छिम पक्षी की ७२००० वर्ष, सम्मूर्च्छिम सर्प प्रमुख की ५३००० वर्ष, सम्मूर्च्छिम गोह नकुल की ४२००० वर्ष की ये उत्कृष्टी भवस्थिति कही।

अब तिर्यंच की कायस्थिति कहते हैं.

एसा पुढवाईणं ॥ भवट्ठिइ संपयंतु काय-ठिइ ॥ चउ एगिंदि सुणेया ॥ उसप्पिणीओ असंखिज्जा ॥ २६४ ॥

भावार्थः—यह पृथ्वीकायादिक की भवस्थिति कही अब इसी पृथ्वीकायादिक की कायस्थिति (मृत्यु पाकर उसी काय में फिर उत्पन्न होवे सो) कहते हैं। पृथ्वी, अप, तेउ, और वायु इन चार एकेन्द्रिय में प्रत्येक में उत्कृष्टी कायस्थिति असंख्याती उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण जानना। इसका भावार्थ यह है कि पृथ्वीकाय जीव मृत्यु पा पा कर फिर पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होता रहे तो असंख्याती अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल पर्यंत उत्कृष्टसे इसी काय में रहे। इस प्रकार अप, तेउ, वाउका भी जानना। दश कोडा कोडि सागरोपम की एक अवसर्पिणी और दश कोडा कोडी सागरोपम की एक उत्सर्पिणी होती है एवं वीश कोडा कोडी सागरोपम का एक कालचक्र होता है.

वाउ वणंमि अणंता ॥ संखिज्जा वास सहस विगलेसु ॥ पंचिंदि तिरि नरेसु ॥ सत्तट्ठ भवाउ उक्कोसा ॥ २६५ ॥

भावार्थः—वनस्पति की कायस्थिति अनंती अवसर्पिणी उत्सर्पिणी की जानना। बेंद्रियादिक विकलेन्द्रि की संख्याता वर्षकी यानि प्रत्येक की उत्कृष्टकायस्थिति संख्याता सहस्र वर्ष की है। तिर्यंच पंचेन्द्रि तथा मनुष्य पचेन्द्रिय की कायस्थिति सात आठ भव करे और आठवें भवमें युगलिक होवे इन आ-

ठों भवका उत्कृष्ट कालमान तीन पल्योपम पर सात पूर्व कोडी जानना। यह उत्कृष्टीकायास्थिति कही।

अब जघन्य भवस्थिति तथा कायस्थिति कहते हैं.

सव्वेसिंपि जहरणा॥ अंतमुहुत्तं भवेय काए य॥

भावार्थः—पूर्वोक्त पृथ्वीकायादिक सर्व की जघन्य भवस्थिति तथा कायस्थिति अंतमुहूर्त प्रमाण जानना। यहां कायस्थिति के प्रस्ताव में मनुष्य की भी कायास्थिति कही, किन्तु देवता, नारकी न कही, क्योंकि देवता नारकी मृत्यु पाकर पुनः देवता नारकी में उत्पन्न नहीं होते हैं अतः इनकी कायास्थिति नहीं होती है।

अब तिर्यंच का अवगाहना द्वार कहते हैं.

जोयण सहस्स महियं॥ एगिंदिय देह मुक्कोसं॥ २६६॥ बि ति चउरिंदि सरीरं॥ बारस जोयण तिकोस चउक्कोसं॥ जोयण सहस पणिंदिय॥ ओहे वुच्छं विसेसंतु॥ २६७॥

भावार्थः—सामान्य रूप से एकेन्द्रिय को शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की जानना। बेंद्रिय शंखादिक की उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन की, तेइंद्रिय चींटी, मकोड़

जातिके जीवों की तीन गाउ की और चौरेन्द्रिय भ्रमरादिक जाति की चार गाउ की उत्कृष्ट अवगाहना जानना। पंचेंद्रिय की शरीर उत्कृष्ट एक हजार योजन की जानना। ये शरीरमान ओघ से यानि सामान्य रूप से कहे गये है। अब विशेष रूप से कहते है।

अंगुल असंख भागो ॥ सुहमनिगोओ अ-
संख गुणवाऊ ॥ तो अगणिअो आऊ तत्तो
सुहुमा भवे पुढवी ॥ २६८ ॥ तो वायर वाउगणी
आऊ पुढवी निगोय अणुकमसो ॥ पत्तेयवण
सरीरं ॥ अहियं जोयण सहस्संतु ॥ २६९ ॥

भावार्थ—वनस्पति के दो भेद हैं. १ प्रत्येक २ साधारण, साधारण शब्द से निगोद अनंतकाय समझना। इसका (सूक्ष्म निगोद का) शरीर अंगुल के असंख्यातवें भागका है, इससे असंख्यात गुण सूक्ष्म वाउकाय का शरीर है, इससे असंख्यात गुणा सूक्ष्म तेउकाय का शरीर, इस से असंख्यात गुणा सूक्ष्म अपकाय का शरीर. इससे असंख्यात गुणा सूक्ष्म पृथ्वीकाय का शरीर, इससे असंख्यात गुणा एक वादर वाउकाय का शरीर, इससे असंख्यात गुणा वादर अग्निकाय का शरीर, इससे असंख्यात गुणा वादर अपकाय का

शरीर, इससे असंख्यात गुणा वादर पृथ्वीकाय का शरीर इस से असंख्यात गुणा वादर निगोद का शरीर ये दशों के एक २ शरीर एक २ से असंख्यात गुणाधिक है. परन्तु एक २ शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग का जानना । प्रत्येक वनस्पति का शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन का जानना ।

उस्सेहंगुल जोयण ॥ सहस्समाणे जला-सए नेयं ॥ तं. वल्लि पउम. पमुहं ॥ अओपरं पुढविरूवं तु ॥ २७० ॥

भावार्थः—उत्सेधांगुल के परिमाण से एक हजार योजन का गहरा जलाशय जानना वहां पर रहने वाले जो कमल प्रमुख वनस्पति काय है उनके शरीर कुछ अधिक १००० योजन के होते हैं. इसके अलावा जो पद्मद्रह के कमल हैं वे पृथ्वी काय रूप जानना क्योंकि पद्मद्रह एक हजार योजन का गहरा है यह भावार्थ विशेष णवति ग्रंथ में कहा है.

अब द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट देहमान कहते हैं.

बारस जोयणा संखो ॥ तिकोस गुम्मीय जोयणं भमरो ॥ मुछिम चउपय भुय ॥ गुरग गाऊधणु जोयण पहुत्तं ॥ २७१ ॥

भावार्थः—शंख प्रमुख द्वींद्रिय जीवों का बारा योजन का शरीर कनसीलाईया प्रमुख तेंद्रिय का तीन कोश का शरीर, भवरा प्रमुख चउरिंद्रिय का योजन का शरीर, समूर्च्छिम चतुष्पद गाय प्रमुख का उत्कृष्ट नव कोश का शरीर, समूर्च्छिम भुजपरिसर्प्प गोह नकुलादिक का नव धनुष्य का शरीर, समूर्च्छिम उरपरिसर्प्प अजगरादिक का नव योजन का शरीर जानना.

गप्भ चउप्पय छग्गा ॥ उयाइ भुयगाउ गाउय पहुत्तं ॥ जोयण सहस्स मुरगा ॥ मच्छा ऊभए विय सहस्सं ॥ २७२ ॥

भावार्थः—गर्भज चतुष्पद हस्ति प्रमुख का छ कोश का शरीर, गर्भज भुजपरि सर्प गोह प्रमुख का नव गाउ का शरीर गर्भज उरपरि सर्प का एक हजार योजन का शरीर तथा गर्भज और समूर्च्छिम दोनों प्रकार के मत्सों का शरीर एक हजार योजन प्रमाण जानना.

पक्खिद्ग दुग धणुपहुत्तं ॥ सव्वाणंगुल असंखभाग लहू ॥

भावार्थः—समूर्च्छिम तथा गर्भज इन दोनों प्रकार के पक्षियों का शरीर नव धनुष्य का जानना ये सर्व शरीर का

उत्कृष्ट प्रमाण सामान्य विशेष रूप से कहा. अब जघन्य प्रमाण इन सब का (एकेंद्रिय, बेंद्री, तेंद्री, चौरेंद्री, और पंचेंद्रिय तिर्यंच का शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग का उपपात समय में शरीर पर्याप्ति के वक्त होता है.

अब प्रसंगागत वैक्रिय अवगाहना का प्रमाण कहते हैं.

वैक्रिय शरीर बादर वाउकाय पर्याप्ता जीव तथा संख्याता आयुष्य वाला गर्भज तिर्यंच पंचेंद्रिय में से भी कोईक जीव करे तो उनमें वाउकाय का जीव जघन्य उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग तथा पंचेंद्रिय तिर्यंच जघन्य से उतना ही और उत्कृष्ट से नवसो योजन तक का वैक्रिय शरीर करे.

इति तिर्यंच का अवगाहना द्वार सम्पूर्ण ।

अब उपपात विरह और चवन विरह ये दोनों द्वार साथ में कहते हैं एकेंद्रि प्रति समय उत्पन्न होते व चवते हैं इसलिये इनको ये द्वार नहीं होते हैं अतः द्वींद्रियादिक का उपपात व च्यवन विरहकाल कहते हैं.

विरहो विगला सन्नीण जम्ममरणेसु अंतमूहु ॥ २७२ ॥ गब्भे मुहुत्त बारस ॥ गुरुओ लहु समय संखसुर तुल्ला ॥

भावार्थः-बेंद्री, तेंद्री, व चउरिन्द्रिय ये तीन विकलेंद्रिय और समूर्च्छिम पंचेंद्रि तिर्यंच इनका जन्म मरण आश्रयी विरह काल प्रत्येक में उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त का जानना और गर्भज तिर्यंच पंचेंद्रिय का उपपात चवन विरहकाल उत्कृष्ट बार मुहूर्त का जानना और सर्वत्र जघन्य विरहकाल एक समय का जानना और ये बेंद्रियादिक एक समय में उपजे तो संख्या में देवता के समान एक, दो, तीन यावत् संख्याता असंख्याता तक उपजे और चवे एकेंद्रिय का कहते हैं.

अणुसमय मसंखिज्जा ॥ एगिंदिय हुंतिय चवंति ॥ २७४ ॥ वणकाइओ अणंता ॥ इक्कि-क्का ओविजं निगोयाओ ॥ निच्चमसंखो भागो, अणंत जीवा चयइ एइ॥ २७५ ॥

भावार्थः-प्रति समय एकेन्द्रिय जीव असंख्याते उपजे और चवे परन्तु एक समय में संख्याता उपजे या चवे नहीं और वनस्पतिकाय के नीकले हुए जीव वनस्पतिकाय में उत्पन्न होवे तो एक समय में अनंत उपजे और चवे. तथा पृथ्वीका-यादिक परस्थानक में से आकर वनस्पति में उपजे तो असंख्याते उपजे ।

अब निगोद शरीर का अर्थ कहते हैं—जो अनंत जीव का एक साधारण औदारिक शरीर स्तिवुकाकार (पाणी के बुदबुद के समान उसको निगोद कहते हैं वे अनंत जीव एकी साथ श्वासो श्वास लेते हैं, एकी साथ आहार करते हैं। असंख्यात निगोद के समुदाय को गोला कहते हैं। ऐसे असंख्यात गोले चौदह राजलोक में हैं।

गोलाय असंखिज्जा ॥ असंख निग्गोयओ हवइ गोलो ॥ इक्किक्कंमि निग्गोए ॥ अणंत जीवा मुणेयव्वा ॥ २७६ ॥

भावार्थः—संसार में असंख्यात गोले हैं, एक २ गोले में असंख्याते निगोद शरीर हैं, एक २ निगोद में अनंत २ जीव हैं, ये निगोद जीव के दो भेद हैं एक संव्यवहारी और दूसरे असंव्यवहारी उनमें से जो अनादि निगोद से निकल कर पृथ्वीकाय प्रमुख में उपजे उनको संव्यवहारी जीव कहते हैं कदाचित् वह जीव पुनः निगोद में जा उपजे तो भी वह संव्यवहारी ही कहा जाता है, और जो जीव अनादि निगोद से निकले ही नहीं है अनादिकाल से सुक्ष्म निगोद तथा बादर निगोद में ही रहते हैं उनको असंव्यवहारी कहते हैं। और जितने जीव मोक्ष में जावे उतने ही जीव निगोद से निकल कर पृथ्वीकायादिक में आकर उत्पन्न होवे यह विशेषार्थ है।

अत्थि अणंता जीवा ॥ जेहिं न पत्तो तसाइ परिणामो ॥ उप्पज्जंति चयंतिय ॥ पुणोवि तत्थेव तत्थेव ॥ २७७ ॥

भावार्थः—अनंत जीव ऐसे हैं कि जो त्रसादिक पर्याय पाये ही नहीं हैं वे जीव पुनः पुनः निगोद में से निकल कर निगोद में ही उत्पन्न होते है. वहां के वहां ही रहते हैं।

सव्वोवि किसलओ खलु ॥ उग्गममाणो अणंतओ भणिओ ॥ सोचेव विवड्ढंतो ॥ होइ परित्तो अणंतोवा ॥ २७८ ॥

भावार्थः—समस्त वनस्पति काय (प्रत्येक तथा साधारण) उगते समय किसलय रूप होती है उसको अनंत काय ही जानना. और किसलय बढते २ जब अंतर्मुहूर्त के बाद कोई प्रत्येक शरीरी और कोई साधारण शरीरी होता है.

जया मोहोदयो तिव्वो ॥ अन्नाणंखु महब्भयं ॥ पलव वेयणीयंतु ॥ तया एगिंदिय त्तणं ॥२७९॥

भावार्थः—जब तीव्र मोहोदय-विषयाभिलाप, मैथुन परिणाम होवे अथवा अज्ञान रूप महाभय से जीव सचेतन का अचेतन

हो जावे, तथा असार अशाता वेदनीयका उदय होवे तब ऐसे परिणाम और संज्ञा के कारण एकेंद्रिय नाम कर्म जीव उपार्जन करता है.

अब कौन जीव तिर्यंच में जावे सो कहते हैं ।

तिरिएसुजंति संखा ॥ उतिरिनराज्जादु कप्पदेवाओ ॥ पज्जत्त संख गप्भय ॥ बायर भूदग परित्तेसु ॥ २८० ॥ तो सहसारंत सुरा ॥ निरया पज्जत्त संख गप्भेसु ॥

भावार्थः-एकेंद्री, वेंद्री, तेंद्री, चउरिन्द्री तथा संख्याता वर्षकी आयु वाले पंचेंद्री तिर्यंच और संख्याता वर्षायु वाले मनुष्य इन स्थानक वाले जीव मृत्युपाकर एकेंद्री वेंद्री, तेंद्री, चउरिंद्री और तिर्यंच पंचेंद्रिमें उपजें। भुवनपति, व्यंतर ज्योतिषी यावत् सौधर्म ईशान कल्प वासी देव मृत्युपाकर पर्याप्ता संख्याता आयु वाले गर्भज तिर्यंच में उपजें तथा पर्याप्ता बादर पृथ्वीकाय, अपकाय तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय में भी उपजें । सनत्कुमार से लेकर सहस्सार पर्यंत छः देवलोक के देव तथा नारकी चवकर पर्याप्ता संख्याता आयु वाले गर्भज तिर्यंच में उपजें, शेष जाति के जीव तिर्यंच में जा उपजें नहीं ।

संख पणिंदिय तिरिया ॥ मरिउं चउसु विगइ सुज्जंति ॥ २८१ ॥ थावर विगला नियमा ॥ संखाउयतिरि नरेसु गच्छंति ॥ विगला लभिज्ज विरइं ॥ सम्मंपि न तेउवाउ चुया ॥ २८२ ॥

भावार्थः—संख्याती आयु वाले पचेंद्रिय तिर्यंच मरकर सिर्फ एक मोक्षगति के अलावा चारोंगति में जावे. और स्थावर तथा विगलेंद्री मृत्यु पाकर पिछे सख्याते आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच में उपजे परन्तु देव, नारकी तथा युगलिक मनुष्य तिर्यंच में उपजे नहीं। विगलेंद्रि मरकर मनुष्य होवे तथा सर्व सावद्य विरतिरूप चारित्र पावे परन्तु सीजे नहीं। तेउ और वाउ मरकर मनुष्य न होवे परन्तु कदाचित् तिर्यंच पचेंद्रिय होवे तो भी सम्यक्त्व पावे नहीं. शेष समूर्च्छिम गर्भज तिर्यंच, तथा समूर्च्छिम गर्भज मनुष्य तथा पृथ्वी, अप, और वनस्पति ये मरकर मनुष्य होवे और मनुष्य होकर चारित्र पाकर मरुदेवी माता की तरह मोक्षगति में भी जासके।

पुढवि दग परित्तवणा ॥ बायर पज्जत्तहुंति चउलेसा ॥ गब्भय तिरिय नराणं ॥ छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥ २८३ ॥

भावार्थः—बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय, अपकाय तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय में ४ लेश्या होवे क्योंकि भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी सौधर्म और ईशान देवलोक के देवता तेजोलेश्यावंत होवे सो मरकर पृथ्वी, अप, वनस्पति में उपजें वे जीव पर्याप्त होने के बाद अंतर्मुहूर्त पर्यंत कुछ काल तेजुलेश्यावंत होवें अतः उनमें कृष्ण, नील, कापोत और तेजु ये चार लेश्या होवें। गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य के छः लेश्या होवे। शेष तेउकाय, वाउकाय, सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म अपकाय, साधारण अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अपर्याप्त बादर अप्पकाय, अपर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय, बेंद्री, तेंद्री, चउरेंद्री, समूर्च्छिम पंचेंद्री तिर्यंच तथा समूर्च्छिम पंचेंद्री मनुष्य इन सब के कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होवे।

अंत मुहुत्तंमि गए ॥ अंत मुहुत्तंमि सेसए चेव ॥ लेसाहिं परिणयाहिं ॥ जीवा वच्चंति परलोयं ॥ २८४ ॥

भावार्थः—मनुष्य तथा तिर्यंच परभव की लेश्या आने के बाद अंतर्मुहूर्त में मृत्यु पावे और देवता तथा नारकी अपनी मूल लेश्या का मुहूर्त बाकी रहे तब मृत्यु पाकर परभव में जावे वहां उत्पन्न होने के बाद मूल लेश्या अंतर्मुहूर्त तक भोगवे उन

में पर्याप्तिका अंतर्मुहूर्त छोटा है और लेश्या का अंतर्मुहूर्त बड़ा है अंतः पर्याप्तावस्था में भी परभव की तेजुलेश्या संभवे. अंतर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद होते हैं।

तिरिनर आगामि भवे, लेस्साए अइगए सुरानिरया, पुव्वभव लेस्ससेसे, अंतमुहुत्ते मरणमिति २८५

भावार्थः—तिर्यंच तथा मनुष्य आगामी भव की लेश्या का अंतर्मुहूर्त जाने के बाद मृत्यु पावे. देव तथा नारकी पूर्वभव की लेश्या का अंतर्मुहूर्त बाकी रहे तब मरकर परभव में उपजे।

अंत मुहुत्त ठिइओ ॥ तिरिय नराणं हवंति लेस्साओ ॥ चरिमानराण पुण नव ॥ वासूणा पुव्व कोडीवि ॥ २८६ ॥

भावार्थः—पृथ्वीकायादिक तिर्यंच और समूर्च्छिम तथा गर्भज मनुष्य को जो २ लेश्या होती है उनकी स्थिति अंतर्मुहूर्त प्रमाण जानना। पृथ्वीकाय में जो लेश्या है वह जघन्य तथा उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त पर्यंत रहकर संज्ञा के कारण पलट कर दूसरी लेश्या भी होजाती है. अंतर्मुहूर्त से अधिक लेश्या नहीं ठहरती है. इसी प्रकार अपकाय प्रमुख तिर्यंच के तथा संमूर्च्छिम गर्भज मनुष्य को भी जानना और आखिरी जो शुक्ल

लेश्या वह मनुष्य को नव वर्ष कम एक पूर्व कोडी पर्यंत ठहरती है (केवली आश्रयी).

तिरियाणादे ठिइपमुहं ॥ भणिय मसेसंपि संपई वुच्छं ॥ अभिहिय दारज्भहियं ॥ चउगइ जीवाण सामन्नं ॥ २८७ ॥

भावार्थः-शुरू से लेकर तिर्यच की स्थिति प्रमुख समस्त आठ प्रतिद्वार सह तिर्यच का द्वार कहा. प्रस्तुत चारगति के द्वार में कुछ बोल आगे कह आये हैं और कुछ बोल अधिक हैं सो नहीं कहे हैं अतः चारोंगति के जीवों के सामान्यरूप से कहते हैं.

देवा असंख नरतिरि ॥ इत्थी पुंवेय गब्भ नर तिरिया ॥ संखाउया तिवेया ॥ नपुंसगा नारयाईया ॥ २८८ ॥

भावार्थः-देवता और असंख्यात आयुवाले युगलिक मनुष्य तिर्यच उनमें स्त्री वेद तथा पुरुष वेद ये दो वेद होते हैं. संख्यात वर्ष के आयु वाले गर्भज मनुष्य तिर्यच में तिनों वेद होवे तथा नारकी आदि शेष जीवों को एक नपुंसक वेद ही होवे.

आयंगुलेण वच्छुं ॥ सरीर मुस्सेह अंगुलेण तहा ॥ नगपुढवि विमाणाइं ॥ मिणसु पमाणं गुलेणंतु ॥ २८९ ॥

भावार्थः—अंगुल के तीन प्रकार हैं. एक आत्मांगुल, दूसरा उत्सेधांगुल और तीसरा प्रमाणांगुल. इनमें से आत्मांगुल से वस्तु (धवलगृह, भूमिगृह, तहखाना, कूप, तालाव प्रमुख का परिणाम होवे जिस काल में जितना शरीर प्रमाण होवे उसके अनुसार घर, हाट कूपादि को नापते हैं. देव प्रमुख शरीर उत्सेधांगुल से नापे जाते हैं. तथा पर्वत, पृथ्वी, विमानादिक का परिमाण प्रमाणांगुल से किया जाता है.

सत्थेण सुतिक्खेणवि ॥ छित्तु भित्तुं च जं- किरन सक्का ॥ तं परमाणुं सिद्धा ॥ वयंति आइं पमाणाणं ॥ २६० ॥

भावार्थः—अत्यन्त तीक्ष्ण खड्गादिक से भी जिसके दो खंड न हो सके तथा छिद्रादिक भेदन भी न हो सके उसको श्री केवली भगवान ने परमाणु कहा है. उस परमाणु को अंगुल हस्तादि परिमाण में आदि कहा है. परमाणु के दो भेद हैं. १ सूक्ष्म परमाणु २ व्यवहारिक वादर परमाणु. अनंता सूक्ष्म पर- माणु विस्रसा परिणाम से इकट्ठे होते हैं जब एक व्यवहारिक परमाणु होता है.

परमाणू तसरेणू ॥ रहरेणू वालअग्ग लि- क्खाय ॥ जूय जवो अट्ठ गुणो ॥ कमेण उस्सेह-

अंगुलयं ॥ २६१ ॥ अंगुल छक्कं पाओ ॥ सादुगुण विहत्थि सादुगुण हत्था ॥ चउहत्थं धणु दुसहस्स ॥ कोसो ते जोयणं चउरो ॥ २६२ ॥

भावार्थः—आठ व्यवहार परमाणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का एक वालाग्र, आठ वालाग्र की एक लीख, आठ लीख की एक युका, आठ युका का एक यव, आठ यव का एक उत्सेधांगुल होवे. छ उत्सेधांगुल का पाद (पैर), दो पैर का एक वेंत, दो वेंत का एक हाथ, चार हाथ का एक धनुष्य, दो हजार धनुष्य का कोश और चार कोश का एक योजन होता है.

अब प्रमाणांगुल का स्वरूप कहते हैं.

चउसयगुणं पमाणं ॥ गुलमुस्सेहं गुलाउ बोधव्वे ॥ उस्सेहं गुल दुगुणं ॥ वीरस्सायं गुलं भणियं ॥ २६३ ॥

भावार्थः—उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल जानना. इन प्रमाणांगुल से ऋषभदेव तथा भरत चक्रवर्ति का शरीर १२० अंगुल उंचा था. १२०×४००=४८०००÷९६=५०० धनुष्य की उनकी अवगाहना थी.

उत्सेधांगुल का दुगुणा करने से श्री महावीर प्रभु का एक आत्मांगुल होवे. ऐसे ८४ अंगुल का श्री महावीर का शरीर था. ८४ का दुगुणा करने से १६८ उत्सेधांगुल होवे चोवीस अंगुल का एक हाथ होता है अतः १६८ उत्सेधांगुल के ७ हाथ हुए. अर्थात् ७ हाथ का देहमान श्रीवीर प्रभु का था.

अब ८४ लाख जीवायोनि के भेद कहते हैं.

पुढवाइसु पत्तेयं ॥ सग वणपत्तेय णंत दस चउद ॥ विगले दु दु सुर नारय ॥ तिरि चउ चउ चउदस नरेसु ॥ २६४ ॥

भावार्थः-पृथ्वी, अप, तेउ और वाउ इन चार के सात सात प्रत्येक वनस्पतिकाय के १० साधारण वनस्पति के १४ बेंद्री, तेंद्री, चोरेंद्री के दो दो देवता, नारकी तथा तिर्यंच पंचेंद्रि के चार चार तथा मनुष्य के १४ लाख जीवायोनि होने से ये सब मिलकर ८४ लाख जीवायोनि हुई. जिसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श एक सरीखे होवे सो एक योनि ऐसी ८४ लाख प्रकार की जीवायोनि (जीवों के उत्पत्ति स्थान) हैं. जिस प्रकार गोबर के एक छाणे में बीछू, कृमि, कीडे प्रमुख अनेक जीव उत्पन्न होवे उन सब के कुल अलग, होते हैं मगर योनि एक ही गिनी जाती है.

एक योनि में अनेक कुल होते हैं सो कहते हैं.

एगिंदिएसु पंचसु ॥ बारसगति सत्त अट्ठ-वीसाय ॥ विगलेसु सत्त अड नव ॥ जल खह चउपय उरग भुयगे ॥२६५॥ अद्धत्तेरस बारस ॥ दस दस नवगं नरामरे निरए ॥ बारस छवीस पणविस ॥ हुंति कुलकोडि लक्खाइं ॥ २६६ ॥ इगकोडि सत्त नवई ॥ लक्खा सड्ढा कुलाण कोडीणं ॥

भावार्थः—पृथ्वी आदि ५ एकेंद्रिय के अनुक्रम से १२, ७, ३, ७; और २८ कुलकोडी है. विगलेंद्रिय के अनुक्रम से ७, ८, और ९, लाख कुलकोडी है. जलचर, खेचर, स्थलचर, उरपरि और भुज परि के अनुक्रम से १२॥, १२, १०, १०, और ९ लाख, कुलकोडी हैं. मनुष्य, देवता और नारकी के अनुक्रम से १२, २६ और २५ लाख, कुलकोडी हैं. ये सब मिलकर एक कोडाकोडी ९७ लाख कोडी ५० हजार कोडी इतनी संख्या हुई (१९७५००००००००१००) कुल कोडी ८४ लाख जीवायोनि में है.

अब दूसरी रीति से योनि कहते हैं ।

संवुडजोणि सुरेगिंदि ॥ नारया विघड विगल गब्भुभया ॥ २६७ ॥

भावार्थः—देवता, एकेंद्री, नारकी इन की योनि (उत्पत्ति स्थान) संवृत्त यानि आच्छादित ढकी हुई होती है. देवता देवदुष्य वस्त्र से ढकी हुइ पुष्प शय्या में उपजे, एकेंद्रिय की योनि अस्पष्ट होवे तथा नारकी ढके हुए गोख के भांति आला है उनमें उपजे, तीन विगलेंद्रि, समूर्च्छिम पंचेंद्रि तिर्यंच तथा संमूर्च्छिम पंचेंद्रि मनुष्य की योनि विवृत यानि, सरोवरप्रमुख प्रगट उत्पत्तिस्थान होते हैं तथा गर्भज तिर्यंच व गर्भज मनुष्य की योनि संवृत्त विवृत्त यानि कुछ प्रगट अप्रगट होती है.

पुनः योनिभेद कहते हैं ।

अचित्त जोणि सुरनिरय ॥ मीस गब्भे तिभेय सेसाणं ॥ सी उसिण निरय सुर गभ ॥ मीसत्त उसिण सेस तिहा ॥ २६८ ॥

भावार्थः—देव नारकी के उत्पत्ति स्थान अचित्त (निर्जीव) होते हैं गर्भज तिर्यंच व गर्भज मनुष्य की योनि मिश्र यानि कुछ सचेत व कुछ अचेत होती है । शेष सर्वको, तीन प्रकार की योनि (सचेत, अचेत और मिश्र) होती है.

हय गब्भ संखवत्ता ॥ जोणी कुम्मुन्नयाइजायंति॥
अरिह हरि चक्कि रामा॥ वंसी पत्ताइ सेस नरा२६६॥

भावार्थः—मनुष्य की योनि बाह्य अभ्यंतर तीन प्रकार की है १ शंखावर्त्त, २ कूर्मोन्नत, ३ वंसी पत्रा उनमें प्रथम जो शंखावर्त्त योनि में गर्भ कदापि उपजे नहीं अतः उसको हतगर्भा योनि भी कही है. ऐसी योनि चक्रवर्तिकी स्त्री रत्न की होती है. दूसरी काचवा की पीठके सदृश उन्नत यानि उंची होवे उसको कूर्मोन्नत कहते हैं उसमें अरिहंत, चक्रवर्ति, वासुदेव वलदेव उत्पन होते हैं। तथा तीसरी बांसके पत्ते के युगल सदृश जो वंसीपत्रा योनि है उसमें शेष सामान्य मनुष्य उपजे.

अब आयुष्य सम्बन्धी विशेष कहते हैं।

आउस्सबंध कालो ॥ अबाह कालोय अंत समओय ॥ अपवत्तण णपवत्तण ॥ उवक्कमणुवक्कम्मा भणिया ॥ ३०० ॥

भावार्थः—आयुष्य बंधनकाल और आयुष्य कर्म के उदय आने का काल इन दोनों के बीचमें जो अंतर पडे उसको अबाधा काल कहते हैं; और पूर्वभव की बांधी हुइ आयु जिस समय पूर्ण होवे उसको अंतसमय कहते हैं जो आयु बहुत काल पर्यंत

भोगने योग्य है उसको अल्प कालमें वेदे यानि सौ वर्षकी आयु अंतर्मुहूर्त में वेदे उसको अपवर्त्तन कहते हैं. जो आयु बिचमें से उपक्रम वशात् टूटजावे उसे सोपक्रम कहते हैं. और जो आयु कारण मिलने पर भी टूटे नहीं उसको निरुपक्रम कहते हैं. ये सातोंद्वार का अनुक्रम से विस्तार कहते हैं.

वंधंति देव नारय ॥ असंख नर तिरि छ मास सेसाऊ ॥ परभवि आऊ सेसा ॥ निरुवक्कम तिभाग सेसाऊ ॥ २०१ ॥ सोवक्कमाउया पुण ॥ सेस तिभागे अहव नवम भागे ॥ सत्तावीस इमेवा ॥ अंतमुहुत्तं तिमेवावि ॥ २०२ ॥

भावार्थः—देवता, नारकी, असंख्याती आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच (युगलिक) ये सब छ मास आयु बाकी रहे तब परभव की आयु बांधे. शेष संख्याती आयु वाले मनुष्य,—तिर्यंच एकेंद्रि, विगलेंद्री जो निरूपक्रम आयु वाले हैं. वे अपनी आयु का तीसरा हिस्सा बाकी रहे जब निश्चय परभवकी आयु बांधे. और सोपक्रमायु वाले एकेंद्रि, विकलेंद्रि तिर्यंच पंचेंद्री तथा मनुष्य अपनी आयुका तीसरा हिस्सा नवमा हिस्सा या सत्तावीसवां हिस्स्सा बाकी रहे तब अथवा अंतिम अंतर्मुहूर्त में अ-

वश्य परभव की आयु बांधे. यह बंधकाल का प्रथम द्वार हुआ.

अब अबाधा कालका दूसरा द्वार कहते हैं।

जइमे भागे बंधो ॥ आउस्स भवे अवाह कालोसो ॥ अंते उज्जुगइ इग ॥ समय वक्क चउ पंच समयंता ॥ ३०३ ॥

भावार्थः—जो समभाग से यानि छ मास, तीसरा हिस्सा था अंतर्मुहूर्त शेष रहते हुए जो परभ वायु बांधते हैं उन जीव का वही अबाधाकाल यानि बंध काल और उदयकाल के बीच में जो काल है उसे अबाधा काल कहते हैं। तथा अंत समय यानि आयुष्य का अंतिम समय जिसके बाद परभव की आयु उदय आवे उस अंत समय में परभव में जाते हुए जीव की दो गति होवे, ऋजुगति, २ वक्रगति, उनमें ऋजुगति एक समय प्रमाण है, क्योंकि सम श्रेणी में रहा हुआ जीव उसी समय में उत्पत्ति स्थान में पहुंच कर वहां उपजता है उसे ऋजुगति कहते है। दूसरी वक्रगति सो बाहुल्यता से चार समय तथा कभी २ पांच समय की भी वक्रगति होती है।

उज्जुगइ पढम समए ॥ परभावियं आउयं तहा हारो ॥ वक्काइ बीय समए ॥ परभावियाओ उदयमेई ॥ ३०४ ॥

भावार्थः—ऋजुगति में प्रथम समय में परभविक आयु उदय आवे तथा प्रथम समय परभव का आहार भी उदय आवे. वक्र गति में द्वितीय समय में परभवायु आहारोदय होवे सो एक समय की वक्रगति जानना। दूसरी वक्र में तीन समय लगे, तीसरी वक्र में ४ समय लगे यहां सर्व जगह प्रथम समय में तथा अंत समय में आहारक होवे और मध्य के एक समय, दो समय या तीन समय अणाहारक होवे. एक समय की वक्र किस प्रकार होवे सो कहते हैं:—

त्रसनाडी में सातवीं नरक के नीचे मृत्यु पाकर उर्ध्वलोक की चाहे जोनसी दिशि में उत्पन्न होने में दो समय लगे तब एक समय की वक्रगति जानना।

अधोलोक पूर्व दिशि से प्रथम समय में त्रस नाडी में आवे दूसरे में उर्ध्वलोक की पश्चिम दिशि में आवे तीसरे में उत्पत्ति स्थान में जावे. उसमें दो समय की वक्रगति है.

अब अधोलोक की विदिशि से एक समय में अधोलोक की दिशि में आवे, दूसरे में त्रसनाड़ी में आवे, तीसरे में ऊंचे उर्ध्वलोक की दिशि के मुख भाग पर आवे और चौथे समय उत्पत्ति स्थानक में जा उपजे तब चार समय लगे उनमें तीन समय की वक्रगति जानना।

जब प्रथम समय में अधोलोक की विदिशि से अधोलोक की दिशि में आवे और दूसरे समय में त्रसनाडी में आवे, तीसरे समय ऊर्ध्वलोक में आवे चौथे समय में ऊर्ध्वलोक में उत्पत्ति स्थान की सीधी दिशा में आवे और पांचवें समय में विदिशि जा उपजे यहां पांच समय लगे उनमें चार समय की वक्रगति जानना. यहां जितने समय वक्र उतने समय अणाहारक जानना.

इग दुति चउ वक्कासु ॥ दुगाइ समएसु परभवाहारो ॥ दुग वक्काइ सुसमया ॥ इग दो तिन्निय अणाहारा ॥ ३०५ ॥

भावार्थः—एक दो तीन और चार समय की वक्रगति में अनुक्रमे दो आदि समय में परभवाहार कर अर्थात् एक समय की वक्रगति में दूसरे समय में परभवाहार करे, दो की वक्रगति में तीसरे में परभवाहार करे, दो की वक्रगति में तीसरे में परभवाहार करे, तीन की वक्रगति में चोथे में परभवाहार करे, और चार समय की वक्रगति में पांचवें समय में परभवाहार करे। दो आदि वक्रागति में एक, दो तीन समय अणाहारक होवे। यहां बात बहुत विस्तृत है सो श्री भगवतिसूत्र की वृति से देख लेना उसमें चार समय अणाहारक तथा पांचवें समय में आहारक कहे हैं।

बहुकाल वेयणिज्जं ॥ कममं अप्पेण जमिह कालेणं ॥ वेइज्झइ जुगवं चिय ॥ उइन्न सव्व-प्पए सग्गं ॥ २०६ ॥ अपवचणिज्जमेयं ॥ आउं अहवा असेस कम्मंपि, बंध समयवि बध्धं ॥ सिढि-लं चिय तंजहा जोगं ॥ २०७ ॥

भावार्थः—जो आयु अधिक काल में वेदने योग्य है उसे थोड़े काल में आत्मा के सर्व प्रदेश के अग्र भाग में उदय में लाकर समकाल में वेदे अनुभव कर निर्जरे सो आयुष्य कर्म अपवर्तन कहा जाता है। यहां शिष्य प्रश्न करते हैं कि जिस प्रकार कर्म बांधे उसी प्रकार वेदे नहीं, अन्य रीति से वेदे तो फिर बंधन अबंधन में क्या विशेष ? गुरू कहते हैं कि बंध समय में भी वैसे ही अध्यवसायादि कारण मिले हैं कि जिस के प्रभाव से वैसा ही सिथिल (ढीला) बंध हुआ है जो देश कालादिक कारण मिलने पर अवश्य थोड़े काल में ही वेदे उसे सोपक्रम कहते हैं।

अब अनप्रवर्तक कहते हैं.

जं पुण गाढ निकायण ॥ बंधेणं पुव्वमेव

किल बद्धं ॥ तं होइ अणपवत्तणं ॥ जुगंकम वेयणिज्ज फलं ॥ ३०८ ॥

भावार्थः—फिर जो आयुष्य अथवा शेष कर्मों का गाढ अत्यन्त अवश्य वेद्य निकाचित बंधन द्वारा पहले से ही निश्चय रूप से बंध हो चुका है उसको अनपवर्तन कहते हैं अतः अनुक्रम से जिसका भोगने योग्य फल हैं उसको निरुपक्रम कहते हैं.

उत्तम चरम सरीरा ॥ सुरनेरइया असंख नरतिरिया ॥ हुंति निरुवक्कमाओ ॥ दुहावि सेसा मुणेयव्वा ॥ ३०९ ॥

भावार्थः—उत्तम पुरुष (त्रिषष्टि शला का पुरुष), चरम शरीरी (तद्भव मोक्षगामी) देवता, नारकी, युगलिक मनुष्य तिर्यंच ये सब निरुपक्रमी आयु वाले हैं. शेष जीवों में कोई सोपक्रमी है. और कोई निरुपक्रमी भी हैं.

जेणाउ मुवक्कमिज्जइ ॥ अप्पसमुत्थेण इयर गणावि ॥ सो अज्झवसाणाई ॥ उवक्कम-ऽणुवक्कमो इयरो ॥ ३१० ॥

भावार्थः—आत्मा के अध्यवसाय से अथवा बाह्य कोई

कारण से यानि विष, अग्नि, शस्त्र प्रमुख के उपक्रम से दीर्घ काल की आयु अल्पकाल में वेदे. अपवर्तन हेतुके अध्यवसाय से जो उपक्रम होवे उसको उपवर्तन सोपक्रमायु कहते हैं और इतर याने विपरीत पणे अनुपवर्त्तन सो अनुपक्रमायु जानना.

अज्झवसाण निमित्ते ॥ आहारे वेयणा पराघाए ॥ फासे आणा पाणू ॥ सत्तविहं भिज्झए आउं ॥ ३११ ॥

भावार्थः-सात प्रकार से आयु क्षय होता है, सो सात प्रकार कहते हैं १ अध्यवसाय-राग स्नेहमय रूप मानसिक विकल्प से या मन रहित प्राणी संज्ञा से मृत्यु पाये. जैसे कोई स्त्री तरुण पुरुष पर अनुरागिनी होने बाद में उस पुरुष की प्राप्ति न होवे तो रागवेग मृत्यु पावे. अथवा जिस प्रकार किसी सार्थवाहिनी को किसी ने कहा कि तुम्हारा पति परदेश गया था वहां मरगया ऐसा सुनकर स्नेह वश मृत्यु पागई. तथा जैसे श्रीकृष्ण को देखकर सो मील ब्राह्मण भय से मरगया इस प्रकार भय से भी मृत्यु पावे. २ निमित्त-दंड, चाबुक, शस्त्रादिक से मृत्यु पावे. ३ आहार-(अति आहार) करने से मृत्यु पावे. ४ वेदना सद्यघाती शूलादिक की वेदना से भी मृत्यु पावे. ५ पराघात-गड्ढे में गिरने से मृत्यु पावे. ६ स्पर्श-सर्प्प

अग्नि तथा विष प्रमुख के स्पर्श से मृत्यु पावे. ७ आणापाणु श्वास उश्वास न्यूनाधिक वहने से अथवा श्वासोच्छ्वास रोकने से मृत्यु पावे, इन सात कारणों से सोपक्रमायु कमती होती है. और निरुपक्रम जो निकाचित आयु है सो कमती होवे नहीं.

आहार सरीरिंदिय ॥ पज्जत्ती आणपाण भासमणे ॥ चउ पंच पंच छप्पिय ॥ इग विगला सन्नि सन्नीणं ॥ ३१२ ॥

भावार्थः—आहार प्रमुख के पुद्गल ग्रहण परिणमन हेतु जो आत्मा की शक्ति विशेष उसको पर्याप्ति कहते हैं. यहां १ आहार पर्याप्ति, २ शरीर पर्याप्ति व ३ इंद्रिय पर्याप्ति (ये तीन विच में जो पर्याप्ति शब्द गाथा में कहा है उसका कारण यह है कि कोई भी जीव अपर्याप्तावस्था में मरे तो भी ये तीन पर्याप्ति पूर्ण करने के वाद ही मरे इसलिये यहां इंद्रिय पद के साथ पर्याप्ति की योजना की है). ४ श्वासोश्वास पर्याप्ति ५ भाषा पर्याप्ति ६ मन-पर्याप्ति ये छ पर्याप्ति में से उत्पन्न होने के प्रथम समय से जिस जीव को जितनी पर्याप्ति करने की है वह जीव उतनी ही पर्याप्ति करने लग जावे फिर अनुक्रम से आहार, शरीर यों सर्व पर्याप्ति यथायोग्य पणे करे. आहार प्रथम समय में ही करे शेष सर्व पर्याप्ति प्रत्येक असंख्यात समय

प्रमाण (अंतर्मुहूर्त) में करे. वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव को एक शरीर पर्याप्ति अंतर्मुहूर्त में होवे और शेष समस्त पर्याप्ति एक एक समय में होवे यों सर्व मिलकर अंतर्मुहूर्त प्रमाण पर्याप्तिकाल जानना.

एकेंद्री.के चार पर्याप्ति तथा विकलेंद्रिय के भाषा सहित ५ पर्याप्ति होवे तथा असंज्ञी समूर्च्छिम तिर्यंच पंचेंद्रि तथा मनुष्य के एक मन विना ५ पर्याप्ति होवे. संज्ञी पंचेंद्रि गर्भज तिर्यंच तथा मनुष्य, देव, नारकी के मन सहित छहों पर्याप्ति होती हैं. जो अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण किये विना अपर्याप्तावस्था में मृत्यु पावे वह पहिली तीन पर्याप्ति पूर्ण करके तथा परभव आयु बांध के अंतर्मुहूर्त अबाधाकाल जीता है बाद में मरजाता है.

आहार सरीरिंदिय ॥ ऊसास वऊ मणोभिनि-
व्वत्ती, होइजओ दलियाऊ ॥ करणं पइसाउ प-
ज्जत्ती ॥ ३१३ ॥

भावार्थः—आहार, शरीर, इंद्रिय, उच्छ्वास, वचन और मन इनकी निष्पत्ति जिन पुद्गलों से होती है उन पुद्गलो को आहादिक को निष्पति मति जो करण (जीव की शक्ति शेष) है उसको पर्याप्ति कहते हैं.

अब जीवके १० प्राण कहते हैं ।

पण इंदिय ति बलूसा ॥ साऊ दस पणि चउ छ सग अट्ठ ॥ इग दुति चउरिंदीणं ॥ असन्नि सन्नीण नव दसय ॥ ३१४ ॥

भावार्थः—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये पांच इंद्रियों मनोबल वचनबल और कायबल ये तीन बल तथा श्वासोश्वास और आयुष्य ये दश प्राण है. जिन्हें धारण करने से प्राणी कहलाता है और जिनके न होने से जीव मर गया ऐसा कहते हैं.

एकेंद्रिय के चार प्राण, द्वींद्रिय के ६ प्राण, तेंद्रि के ७ प्राण चौरेंद्रिय के ८ प्राण, असंज्ञी समूर्च्छिम पंचेंद्री तिर्यंच के ९ प्राण (यद्यपि समूर्च्छिम मनुष्य भी असज्ञी में है परन्तु उनके ७ या ८ प्राण ही होते है) और संज्ञी गर्भज पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य, देव और नारकी के दश प्राण होते. हैं.

अब यह ग्रन्थ कहासे उद्धृत किया सो कहते हैं ।

संखित्ता संघयणी ॥ गुरुतर संघयणि मज्झओ एसा, सिरि सिरि चद मुणिंदण ॥ निम्मिया अप्प पढणट्ठा ॥ ३१५ ॥

भावार्थः—प्रथम श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने बुद्धि रूप मंथ द्वारा समस्त सिद्धांत मथन करके संक्षिप्त संग्रहणी बनाई.

यह संग्रहणी मूल गाथा तथा अन्य प्रक्षिप्त गाथाओं से बढती २ चारसे पांचसे गाथा जितनी बड़ी होगई. उक्त बडी संग्रहणी पढने में प्रमादी जीव आलस्य करे इसलिये उस बडी संग्रहणी में से अर्थ उद्धृत करके हरसोरा गच्छ शृंगाररूप श्री श्रीचन्द्रसूरि ने यह संग्रहणी शास्त्रांतर के अर्थ इकठे करके संक्षिप्त में बनाई है और जो बड़ी संग्रहणी है उसका सविस्तृत अर्थ ग्रहण न करने वाले के हृदय में शीघ्रता से ठहरे उनके लिये, और खुद को पढने के लिये इसकी रचना की है.

संखित्त यरीउइमा ॥ सरीर मोगोहणाय संघयणा ॥ संन्न संठा ण कसाय लेसिंदिय दु समुग्घाया ॥ २१६ ॥ दिट्ठी दंसण नाणे ॥ जोगुवओगो ववाय चवण ठिइ ॥ पज्जति किमाहारे ॥ सन्नि गई रागई वेए ॥

भावार्थः—अति संक्षिप्त संग्रहणी शरीरादिक २४ द्वार से कहते हैं. १ औदारिकादि पांच ५ शरीर, २ अवगाहना-देहमान, ३ छ संघयण ४ चार संज्ञा, ५ छ संस्थान, ६ चार कषाय, ७ छ लेश्या, ८ पांच इंद्रिय, ९ वेदनीयादिक सात समुद्घात, १० अजीव समुद्घात, ११ तीन दृष्टि, १२ चार दर्शन, १३ पांच ज्ञान १४ पंद्रह योग, १५ वारह उपयोग, १६ उपपात, १७ चवन, १८ आयु स्थिति, १९ छ पर्याप्ति, २० किस प्रकार

आहार करे सो, २१ दीर्घकालादिक तीन संज्ञा, २२ गति, २३ आगति और २४ तीन वेद इस प्रकार २४ द्वार रूप संक्षिप्ततर संग्रहणी कही।

मलहारि हेमसूरी ण ॥ सीस लेसेण विरइयं सम्मं ॥ "पाठांतरे" सीसलेसेण सूरिणा रहियं ॥ संघयाणि रयण मेयं ॥ नंदउजा वीरजिण तित्थं ३१८

भावार्थः—मलधारी गच्छीय श्री हेमचन्द्रसूरि उनके शिष्य में लव (लेश मात्र) ऐसे श्रीचन्द्रसूरि ने यह संघयण रूप रत्न की रचना की अथवा श्री हेमचन्द्रसूरि के शिष्य ने लव लेश यानि संक्षिप्त में सम्यक् प्रकार से यह रचना की. इस प्रकार दूसरा अर्थ भी होता है। यह ग्रन्थ जहां तक श्री महावीर प्रभु का तीर्थ है वहां तक नंदो यानि साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका पढते हुए समृद्धि पाओ, यह प्रांत मंगल है। यहां कुछ तो गाथार्थ से समझना, कुछ यंत्र से समझना, कुछ गुणाकार, भागाकार से समझना. और जिन्होंने गुरुमुख से संग्रहणीके जिस प्रकार अर्थ समझ लिये हो उनको उसी प्रकार पर्यटन करना चाहिये. यह सर्व धर्म ध्यान के आलंवन भेद हैं. चित्त स्थिर करण कर्मक्षय हेतु है अतएव इसके पठन पाठन से भव्य जीव शुभ प्रकृति बांधता है वा अशुभ कर्म का निर्जरा करता है.

इतिश्री चन्द्रसूरि रचित श्री लघु संग्रहणी सूत्र बालावबोध सहित समाप्तः ॥

विद्याप्रेमीयों से प्रार्थना।

श्री श्वेताम्बर जैनधर्म के सूत्रार्थ प्राय गुजराती भाषा में तो छपगये हैं लेकिन हिन्दी भाषामें बहुत ही कम है हिन्दी भाषा सार्व जनिक होने के कारण उपदेशार्थ जैन सूत्रादि अनेक ग्रंथों का सरल हिन्दी भाषान्तर श्रीमान् माणिक्य मुनिजी महाराजने किया है जो सर्व के उपयोगी और लाभदाई है. और प्रत्येक श्वेताम्बर जैनी को यह सर्व हिन्दी भाषान्तर की पुस्तकें अपने पास रखनी और पढनी चाहिये जिससे प्रत्येक वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ में आजाय।

१ "श्री कल्पसूत्र मूल और हिन्दी भाषान्तर" यह सर्व मान्य सूत्र है जो पर्युषणा पर्वमें प्रत्येक जैनी को सुनने का फर्ज है. इसको अवश्य अपने पास रखना और पढना चाहिये मू० १॥)

२ त्रैलोक्य दीपिका (संग्रहणी सूत्र) मूल तथा हिन्दी भाषान्तर इस सूत्रमें स्वर्ग, नर्क, और पृथ्वी के सर्व जीवों का वर्णन है. इस लिये यह ग्रंथ प्रत्येक प्राणी को उपयोगी है. मू० ॥)